दलित आदिवासी और स्कूल

क ख ग घ

च छ ज

ट ठ ड ढ

त थ द ध

प फ ब भ

समावेश

दलित आदिवासी और स्कूल

मध्यप्रदेश के संदर्भ में कुछ अनुभव
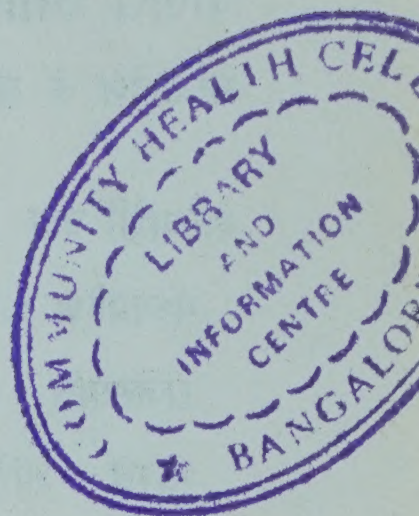
संपादन
लाल बहादुर ओझा

शोध एवं लेखन
विनोद गुप्ता, बालकिशन शर्मा,
दुर्गाशंकर धार्मिक, योगेश मालवीय, सुकन्या

संयोजन
सुकन्या
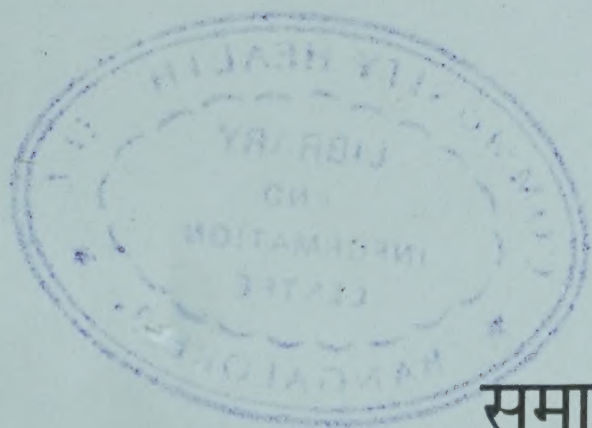
समावेश

दलित आदिवासी और स्कूल

मध्यप्रदेश के संदर्भ में कुछ अनुभव

शोधार्थी दल

मध्यप्रदेश : बालकिशन शर्मा, दुर्गाशंकर धार्मिक, सुकन्या, विनोद गुप्ता, योगेश मालवीय

राजस्थान : भरत, विकास शर्मा, करणी सिंह, गजानन्द शर्मा, अलीमुद्दीन खाँ, निखत परवीन

भारत : शारदा बालगोपालन, रम्या सुब्रह्मण्यम

शोधार्थी संस्थाएं

समावेश, मध्यप्रदेश

विशाखा महिला शिक्षा एवं शोध समिति, जयपुर, राजस्थान

नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडीज़, बैंगलोर

इंस्टीट्यूट ऑफ डेव्लपमेंट स्टडीज़, ससेक्स, यू. के.

आवरण व अन्दर के चित्र : पंकज शर्मा

कम्प्यूटर एवं ग्राफिक्स : भूपेन्द्र नामदेव

प्रकाशक : भोपाल रीहैबिलिटेशन

प्रकाशन वर्ष : अक्टूबर, 2003

सहयोग राशि : 30 रुपये

सम्पर्क :

समावेश

ई-1/138, अरेरा कालोनी

भोपाल - 462 016

फोन : 2467552, 5276468
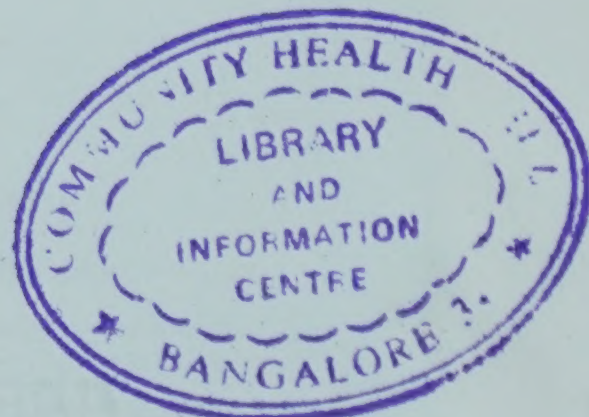
मुद्रण :

भण्डारी ऑफसेट प्रिन्टर्स, भोपाल, मध्यप्रदेश

कहां क्या है

प्राक्कथन		(i)
भूमिका		(iii)
पढ़ाई क्यों?	पढ़ाई क्यों?	1
परिसर	कक्षा अवलोकन	6
	यहाँ भी छुआछूत	21
	सवाल भाषा का	24
	स्कूल बनाम ट्यूशन	28
अभिमत	गोंड कोरकू खाये बोरकू चरावे डोरकू	31
	हम तो सिर्फ पुरजे हैं	35
	मेरा गैरेज मेरा स्कूल	39
	लक्ष्य पर निगाह	41
	कैसे पढ़ता मैं?	43
	अभी भी स्कूल नहीं	47
	एक अभिभावक ऐसा भी	50
	बच्चों में लिंगभेद	52

जाति और पहचान	हमारी जाति ही ऐसी है	55
	आत्मविश्वास ने बदली पहचान	58
	फिर यहीं आकर फंस गई	61
पहुँच की पहल	मंदिर में इ.जी.एस.	64
	निजी स्कूलों के स्याह पहलू	68
	दोहरा नामांकन	71
प्रोत्साहन	छात्रावास में लड़कियां	74
	जी करता है छात्रवृत्ति न लूँ	77
	दुविधा में नेमीचंद	80

प्राक्कथन

यह किताब दलित आदिवासी समुदायों के स्कूली अनुभवों के बारे में है। ये अनुभव वर्तमान स्कूली शिक्षा की वस्तुस्थिति, जटिलताओं और विरोधाभासों की तस्वीर पेश करते हैं।

पुस्तक के आलेखों में प्रयुक्त सभी संदर्भ और आंकड़े इस विषय पर हुये शोध पर आधारित हैं। अध्ययन का भौगोलिक क्षेत्र मध्यप्रदेश के हरदा और उज्जैन हैं।[1] इनमें कुल आठ स्कूलों और उनसे जुड़े समुदाय पर केंद्रित यह अध्ययन 14 महीनों तक चला। इस दौरान उभरकर आए विविध अनुभवों का शोध दल ने विस्तृत दस्तावेजीकरण किया है। हमारी कोशिश है कि उन्हें किताब के रूप में उपलब्ध करा सकें। यह संकलन इस श्रृंखला की पहली कड़ी है।

संकलन में शामिल किये गये आलेख परंपरागत रिपोर्टों से भिन्न हैं। इनमें वस्तुस्थिति की विविधता और प्रामाणिक ताजगी है। प्रत्येक आलेख के लेखक अलग-अलग हैं। इनमें भाषा का अपना अंदाज और एक देशज खुरदरापन है, जो लेखन की विविधता का एक हिस्सा है। बच्चों, अभिभावकों, शिक्षकों, और समुदाय के लोगों के अनुभव और अभिमत को यथारूप प्रस्तुत करने की कोशिश की गई है। संपादन करते समय लेखकों की शैली से कम से कम छेड़छाड़ हो यह कोशिश रही है। पठनीयता के लिहाज से कहीं-कहीं भाषांतर किया गया है।

इस किताब में उठाये गये मुद्‌दे, सीमित भौगोलिक इलाकों के सीमित निदर्शों पर आधारित हैं। परंतु इस सीमा को शोध के अवगुण की तरह नहीं देखा जाना चाहिए। अध्ययन जिन प्रवृत्तियों की तरफ इशारा करता है उनकी व्यापकता इस भौगोलिक सीमा के बाहर तक

---

1. मध्यप्रदेश के अलावा ऐसा ही शोध राजस्थान के दो जिलों टोंक एवं गंगानगर में भी हुआ।

जाती है। एक तरह से वह हमें चौंकाती भी है कि वर्षों पहले चिन्हित समस्याएं आज भी लगभग ठहरी हुई हैं। भूमिका में इस परिदृश्य को रखने की कोशिश की गई है।

आलेखों को छह खण्डों में बांटा गया हैं :

- पढ़ाई क्यों
- परिसर
- अभिमत
- जाति और पहचान
- पहुंच की पहल
- प्रोत्साहन

पढ़ाई क्यों में दलित व आदिवासी बच्चों, अभिभावकों के पढ़ाई संबंधित मतों को पेश किया गया है। **परिसर** के तहत स्कूल के भीतर चलने वाली गतिविधियों व उनके प्रभावों पर नजर डाली गई है। इस खंड में कक्षावलोकन में छात्र-शिक्षक संबंध, शिक्षण प्रक्रिया के कई आयाम सामने आते हैं। **अभिमत** में बच्चों, अभिभावकों, शिक्षकों, समुदाय के लोगों के विविध स्वर सुनने को मिलेंगे। जाति और उससे जुड़ी पहचान की जटिलताओं और उनके संघर्षों की तस्वीर **जाति और पहचान** में मिलती है। बच्चों और समुदायों की स्कूल तक पहुंच बढ़े पिछले कुछ वर्षों से यह सरकार की प्राथमिकता रही है। **पहुंच की पहल** में इन नीतियों के प्रभाव को महसूस किया जा सकता है। दलित और आदिवासी बच्चों की शिक्षा के लिए चल रही प्रोत्साहन योजनाएं जमीन पर कितनी कारगर हैं, उसका लाभ उठाने वाले किन अंतर्द्वंदों से गुजरते हैं, **प्रोत्साहन** खंड के आलेख उन अनुभूतियों से जुड़े हैं।

आलेखों में स्थानों और व्यक्तियों के नाम काल्पनिक हैं। किसी भी व्यक्ति या संस्थान से इनका मेल खाना महज एक संयोग होगा।

हम उन सभी बच्चों, शिक्षकों, अभिभावकों, प्रशासनिक अधिकारियों और जनप्रतिनिधियों के हृदय से आभारी हैं जिनके सहयोग के बगैर यह अध्ययन संभव ही नहीं था। हम समावेश, एकलव्य एवं शोध दलों के साथियों को याद करना चाहेंगे, जिन्होंने प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से समय-समय पर हमारा मार्गदर्शन व मदद की। हम आप सभी के आभारी हैं।

और अंततः इस किताब में उठाये गये मुद्दों और व्यक्त विचारों की पूरी जिम्मेवारी हमारी है। इसे शोध में सहयोगी संस्थाओं और व्यक्तियों की सहमति के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए।

शोध दल, मध्यप्रदेश

भूमिका

नब्बे के दशक की शुरुआत में जब 'सबके लिए शिक्षा' की शपथ विकासशील देशों ने सम्मिलित रूप से ली, भारत भी उन देशों में से एक था। वर्ष 1990 में थाइलैंड के जोमतीयन में हुई इस बैठक में 155 देशों ने भाग लिया था। इसके बाद भारत में शिक्षा के लोकव्यापीकरण के मुद्दे ने फिर जोर पकड़ा। भारत सरकार की नजर विशेष रूप से दलित व आदिवासी वर्ग पर पड़ी जो अशिक्षित जनता का सबसे बड़ा हिस्सा था।

सरकारी पहल पर कई कार्यक्रम शुरू हुए जिसका विवरण समय-समय पर सरकारी दस्तावेजों ने दिया है। इतने व्यापक स्तर पर सरकारी कार्यक्रमों के जरिये शिक्षा का प्रचार और लक्षित समुदाय में इस पैमाने पर उत्साह दोनों ही पहली बार दिखा। नामांकन, उपस्थिति, परीक्षाफल, स्कूल में टिके रहने की दर जैसे संकेतकों की लगातार चौकसी हुई। कुछ ही वर्षों के भीतर इन संकेतकों में वृद्धि देखी गई। और सरकार ने इस प्रगति पर संतोष जाहिर किया।[2]

शिक्षा के लोकव्यापीकरण के इस अध्याय से पहले दलित आदिवासी शिक्षा के विकास का इतिहास दो-तीन संदर्भों से जुड़ा है।

पहला संदर्भ संविधान के नीति निर्देश पर आधारित है। आजादी के तुरंत बाद आर्थिक और सामाजिक रूप से कमजोर, अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के

---

2 मध्यप्रदेश के संदर्भ में देखिये, मध्यप्रदेश मानव विकास रिपोर्ट 2002

विकास के लिए विशेष प्रावधान किये गये। इस वर्ग के बच्चों की शिक्षा के लिए छात्रावास, आश्रमशाला, छात्रवृत्ति, मुफ्त किताब जैसी सुविधाओं की शुरुआत हुई। आरक्षण के जरिये दलित, आदिवासी शिक्षकों की नियुक्ति हुई। हालांकि इसके क्रियान्वयन में कुछ कमियां थीं, फिर भी इन सुविधाओं का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

दूसरा संदर्भ धार्मिक मिशनरियों के शिक्षा में हस्तक्षेप है। मध्यप्रदेश के संदर्भ में इसाई मिशनरियों द्वारा आदिवासी पट्टियों के कुछ इलाकों में उल्लेखनीय काम हुआ है। इनके द्वारा संचालित छात्रावास और स्कूल न सिर्फ शिक्षित करने का प्रयास हैं बल्कि बेहतर शिक्षा का एक सफल उदाहरण है।

तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण संदर्भ स्वयं दलित और आदिवासी वर्ग के द्वारा अपनी शिक्षा के लिए की गई पहल है। इन प्रयासों ने यह ध्यान दिया कि शिक्षा सामाजिक बदलाव के लिए हो। दलित संदर्भ में ऐसी प्रेरणा ज्योतिबा फुले (1827-1890) के काम से मिलती है। उन्होंने ब्रिटिश सरकार से आम लोगों के लिए स्कूल खोलने की अपील की, क्योंकि उन्हें यकीन था कि ऊंची जातियों के लोग पिछड़ी जातियों के बीच शिक्षा का प्रसार नहीं होने देंगे। ज्योतिबा और सावित्री बाई फुले ने स्कूल खोले। इन स्कूलों में महार, मंगौर, चमार जाति की बालिकाओं को पहली बार पढ़ने का मौका मिला। फुले के इन प्रयासों को शास्त्र, धर्म और समाजविरोधी करार दिया गया। उन्हें और उनके सहयोगियों को काफी विरोध झेलना पड़ा। इन बाधाओं के बावजूद फुले के स्कूल लगातार बढ़ते रहे। इन स्कूलों का पाठ्यक्रम आधुनिक शिक्षा पर आधारित था। धार्मिक विश्वासों की जगह उन्होंने वैज्ञानिक चेतना को महत्व दिया। उन्हें भरोसा था कि आधुनिक शिक्षा से ही समाज की विषमता खत्म होगी।

वर्तमान दलित आदिवासी शिक्षा का संदर्भ, विकास के दो और आयामों - दलितों की आजीविका और दलित चेतना - से संबद्ध है। सरकार की उदार आर्थिक नीति - सरकार का उत्पादन क्षेत्र से हाथ खींचते जाना, सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश में कटौती, निजीकरण और बाजार पर निर्भरता - इन समुदायों के रोजगार के अवसरों को प्रभावित कर रही है। स्वाभाविक है इसका असर उनके शैक्षिक विकास पर भी होगा।

दूसरा है दलित राजनीति का वर्तमान दौर। राजनीतिक विशेषज्ञ वर्तमान परिदृश्य को जमीनी दलित आंदोलन के कमजोर पड़ने और शासक वर्ग के साथ हाथ मिलाकर राजनीतिक सत्ता हासिल करने के रूप में देखते हैं। यह संभव है कि सत्ता हासिल करने से दलित पहचान (उत्तरप्रदेश) और उनकी माली हालत (मध्यप्रदेश दलित एजेंडा के वादे) में कुछ परिवर्तन हुआ हो। परंतु इन स्थितियों से दलित आंदोलन को मदद मिली है या नहीं, सरोकार का विषय है।

शोध के मुद्दे

यह शोध दलित और आदिवासी बच्चों के स्कूली अनुभवों से संबंधित है। बच्चों को स्कूल में कैसा लग रहा है, शिक्षक उनसे कैसे व्यवहार करते हैं, बच्चों के आपसी संबंध कैसे हैं, पढ़ाई के बारे में वे क्या सोचते हैं, स्कूल का परिवेश कैसा है, क्या सभी बच्चे पढ़ पा रहे हैं, आदि।

इन अनुभवों से जुड़े कुछ व्यापक सवाल भी हैं।

- जिन दलित और आदिवासी समुदायों की पहली पीढ़ी स्कूल में आई है, शिक्षा के ताजा मौके को लेकर उनमें काफी उत्साह और सपने हैं। क्या ये स्कूल को अपनी इच्छाओं के अनुरूप पा रहे हैं?
- औपचारिक शिक्षा का तजुर्बा नहीं होने की उनकी दिक्कतों को स्कूल कितनी संवेदनशीलता से सुलझाता है?
- क्या स्कूल सामाजिक दूरियों को पाटने में सफल हुआ है?
- क्या स्कूल बच्चों में आत्म विश्वास और शिक्षा से खुलने वाली संभावनाओं को हासिल करने की क्षमता पैदा कर रहा है?
- दलित आदिवासी बच्चों के बड़ी संख्या में आने से स्कूल की संरचना और प्रकार में क्या बदलाव आया है?

इन मुद्दों को समझने के लिए आंकड़ों की बजाए गुणात्मक शोध का ढांचा चुना गया। गुणात्मक शोध में व्यक्तिमूलक अनुभवों के आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। यहां पर यह कहना लाजिमी होगा कि किताब जिन मुद्दों पर केन्द्रित है, उनमें से कई पर काफी महत्वपूर्ण और सघन काम हो चुका है। फिर भी इस किताब का महत्व इसलिए है कि यह इन वंचित समुदायों पिछड़ों के अनुभवों को उन्हीं के शब्दों में व्यक्त करती है। दरअसल, सामाजिक उत्पीड़न और आर्थिक शोषण की तकलीफों को आदिवासी और दलित जातियां जिस तरह से झेलती हैं उनकी जटिलताएं को ज्यादा कारगर तरीके से इस ढांचे में ही व्यक्त किया जा सकता था।

शोध प्रविधि

अध्ययन के लिए मध्यप्रदेश के हरदा और उज्जैन जिले के ग्रामीण-शहरी, प्राथमिक-माध्यमिक-उच्च, शासकीय और निजी, कुल आठ स्कूलों को चुना गया (देखें टेबिल 1)। स्कूलों के चुनाव में यह ध्यान रखा गया कि उनमें दलित आदिवासी बच्चों

टेबिल 1 : स्कूल एवं समुदाय की संक्षिप्त जानकारी

		जिला : हरदा			जिला : उज्जैन			
गाँव/मोहल्ला		चूंचड़ा	बड़ागाँव	पवासा	पारगंज	महादेवपुरा	मोहनपुरा	उत्तम नगर
स्थान		ग्रामीण	ब्लॉक मुख्यालय, कस्बा	ग्रामीण	उज्जैन शहर	उज्जैन शहर से नजदीक, ग्रामीण	उज्जैन शहर	उज्जैन शहर
स्कूल के प्रकार		प्राथमिक एवं माध्यमिक शाला	उच्च माध्यमिक शाला	इ.जी.एस.शाला	प्राथमिक शाला	माध्यमिक शाला	उच्च माध्यमिक शाला	निजी शाला
		सह शिक्षा	बालक	सह शिक्षा	सह शिक्षा	सह शिक्षा	बालक	सह शिक्षा
स्कूली बच्चों की पृष्ठभूमि	सामान्य	2%	40%	-	-	20%	19%	-
	ओबीसी	5% मुस्लिम: 3%	37%	5%	23%	40%	25%	10%
	एससी	-	17%	3%	77% वाल्मीकि	40% बलाई, चर्मकार	50% बैरवा, बलाई	90% बैरवा
	एसटी	90% कोरकू: 80% गोंड: 10%	6% कोरकू, गोंड	92% गोंड	-	-	5%	-
शिक्षकों की पृष्ठभूमि	सामान्य	83%	41%	-	80%	60%	76%	50%
	ओबीसी	-	23%	-	-	40%	12%	-
	एससी	-	29%	100%	20%	-	4%	50%
	एसटी	16%	5%	-	-	-	8%	-

नोट:
1. उत्तम नगर, उज्जैन में एकमात्र प्रायवेट स्कूल है। बाकी सभी सात सरकारी स्कूल हैं।
2. स्कूल में बच्चों की जातिगत पृष्ठभूमि मोहल्ले की जातिगत रचना को भी दर्शाती है। हालांकि उच्च माध्यमिक स्तर पर ये लागू नहीं होती, जहां आस-पास के कई मोहल्लों एवं दूर गांवों से भी बच्चे आते हैं।

की पर्याप्त संख्या हो, ताकि प्रामाणिक तस्वीर हासिल हो सके। इन स्कूलों और उनके परिवेश के अलावा आस पास के कुछ संदर्भों और स्कूली उदाहरणों का उपयोग भी किया गया है।

अध्ययन प्रविधि के तहत स्कूल और स्कूल के बाहर के बच्चों, उनके माता-पिता, शिक्षक, समुदाय के लोग, स्थानीय सरकारी अधिकारियों और ग्रामीण प्रतिनिधियों से विस्तृत बातचीत की गई। सभी स्कूलों में एक कक्षा विशेष पर ध्यान केंद्रित किया गया। प्राथमिक शाला में कक्षा तीन, माध्यमिक शाला में कक्षा छह और उच्च माध्यमिक शाला में कक्षा नौ को चुना गया। स्कूल के बाहर के बच्चों को 9-11, 12-14 और 14-16 तीन आयु वर्गों में बांटा गया। प्रत्येक समूह में 30 बच्चे और 30 अभिभावक थे। यानी आठ स्कूलों के 240 बच्चों, स्कूल न जाने वाले 240 बच्चों व उन सभी के अभिभावकों का सर्वे, एवं कुछ से सघन साक्षात्कार लिये गये। इसके अलावा समूह चर्चा, लगातार कक्षा अवलोकन, शिक्षकों और प्रधानाध्यापक से लंबे साक्षात्कार किये गये। कुछ स्कूलों के आस-पास अनुसूचित जाति, जनजाति कल्याण विभाग द्वारा छात्रावास बनाये गये हैं। इन छात्रावासों का अध्ययन भी किया गया। सभी शोधकर्ताओं ने अपने शोध कार्य पर नियमित डायरियां लिखीं। प्रत्येक इलाके में छह से आठ माह तक अवलोकन किया गया।

हमारे सामने यह प्रश्न था कि क्या दलित और आदिवासियों की शिक्षा संबंधी मामले को एक ही खाने में रखा जा सकता है? परंपरागत रूप से जाति और जनजाति व्यवस्था में काफी भेद रहा है। जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था का सामाजिक श्रेणीक्रम, जातियों के पारंपरिक धंधों की पवित्रता व अपवित्रता पर आधारित रहा है। जैसे मैला ढोने का काम करने वाली वाल्मीकि जाति, समाज के सबसे निचले पायदान पर मानी जाती है। यह परंपरा पीढ़ी दर पीढ़ी चलती आई है। इस व्यवस्था से अलग जनजातियों की पहचान उनकी संस्कृति से जुड़ी है, मसलन बैगा, कोरकू, भील और गोंड सबकी अपनी संस्कृति है। मूलतः श्रेणीक्रम का विधान यहां नहीं रहा है। दूसरे समुदायों की आदिवासी इलाके में घुसपैठ बढ़ने से यह जाति, जनजाति का भेद धुंधला होता गया है। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया के चलते जनजातियों की सांस्कृतिक विविधताएं कम होती जा रही हैं। बहुजातीय गांवों पर नजर डाली जाए तो आदिवासी आबादी एक नई जाति के रूप में शामिल दिखती है। आर्थिक विपन्नता दलित और आदिवासी दोनों की वास्तविकता है। दलित और आदिवासियों के लिए स्कूल संबंधी कई मुद्दे न केवल परस्पर मेल खाते हैं बल्कि उनको समान तरीके से प्रभावित भी करते हैं।

समुदाय का परिचय

स्कूली शिक्षा में बच्चों और शिक्षकों के साथ स्थानीय परिवेश, अभिभावक और उनके समुदाय की भूमिका महत्वपूर्ण है। जिन समुदायों के बच्चे स्कूल में आते हैं उनकी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि जान लेना प्रासंगिक होगा (देखें टेबिल 1)।

मध्यप्रदेश के चयनित जिलों में उज्जैन, दलित बहुल और हरदा, आदिवासी बहुल है। उज्जैन की कुल आबादी के एक चौथाई दलित हैं (अनुसूचित जाति 24.6 प्रतिशत और अनुसूचित जनजाति 2.1 प्रतिशत)। हरदा जिले की आदिवासी और दलितों की मिलीजुली आबादी, जिले की कुल आबादी का 41 प्रतिशत है जिनमें 24.2 प्रतिशत आदिवासी हैं। आदिवासियों में मुख्यतः कोरकू और गोंड जनजाति हैं।

अध्ययन क्षेत्र के लगभग सभी दलित और आदिवासी गरीब और वंचित समुदायों से हैं। उनका गुजारा खेतों और असंगठित क्षेत्र में अस्थाई मजदूरी करके होता है। काम की तलाश में इनको अपने गांव से दूर जाना पड़ता है। ज्यादातर दलितों के पास अपनी जमीन नहीं है। आदिवासियों के पास कुछ जमीन है भी तो असिंचित और कम उपजाऊ है। आदिवासी गांवों में अधिकांश बेहतर जमीन पर गैर आदिवासियों का और दलित आबादी वाले इलाके में ऊंची जातियों का कब्जा है। पिछले कुछ वर्षों में दलित आदिवासी समुदायों के लिए रोजगार के अवसरों में लगातार गिरावट दिखी है।

अस्सी के दशक के अंत और नब्बे के शुरुआती दौर में उज्जैन की कई कपड़ा मिलें बंद हो गईं। इसके कारण बड़ी संख्या में मजदूर बेरोजगार हुए और उनकी निश्चित आमदनी का जरिया टूट गया। उत्तमनगर और मोहनपुरा के बैरवा समुदाय की अर्थव्यवस्था बुरी तरह से प्रभावित हुई है (देखें टेबिल 1)। पिछले 60-70 वर्षों से उनका आर्थिक आधार ये मिलें ही थीं। मिलों की मजदूरी से होने वाली स्थाई आमदनी से ही बैरवा समुदाय को अपने जातिगत पेशे से नाता तोड़ने का अवसर मिला। परंपरागत रूप से चमड़े का काम करने वाली बैरवा जाति ने उज्जैन के राजनीतिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक क्षेत्र में क्रमशः अपनी दखल बनाकर एक उदाहरण पेश किया। मिल बंद होने के बाद से इस समुदाय की बड़ी आबादी दिहाड़ी मजदूरी करने को विवश हो गई है। **[आत्मविश्वास ने बदली पहचान]**[3]

वाल्मीकि समुदाय अभी भी अपने जातिगत पेशे से मुक्त नहीं हो सका है। अगर उन्हें कोई जगह मिली भी है तो नगर-निगम में सफाई कर्मचारी के रूप में। परंतु यहां भी सीमित होते अवसर समुदाय की चिंता के कारण हैं। पारगंज की वाल्मीकि बस्ती के लोगों

---

3 कोष्ठक में संबंधित आलेखों के शीर्षक दिये गये हैं।

का कहना है कि पिछले दस वर्षों में नगरनिगम में कोई भी स्थाई सफाई कर्मचारी बहाल नहीं हुआ। अधिकांश काम अस्थाई कर्मचारियों से कराया जा रहा है। अस्थाई और स्थाई सफाई कर्मचारियों के वेतन का अनुपात लगभग 1:2 है। इस विभाजन का असर बस्ती में साफ दिखता है। स्थाई कर्मचारियों के घर पक्के हैं जबकि अस्थाई कर्मचारियों के घर कच्चे हैं।

हरदा के अधिकतर कोरकू और गोंड आदिवासी साल में दो बार तो अवश्य ही प्रवास करते हैं। ये प्रवास सोयाबीन (अक्टूबर-नवंबर) और गेहूं (अप्रैल) की कटाई के समय होते हैं। प्रवास की अवधि एक सप्ताह से डेढ़ महीने तक की होती है। खेती के मशीनीकरण ने आदिवासी इलाके में काम के अवसरों को काफी कम कर दिया है। लिहाजा, प्रवास और पलायन बढ़ा है। कोरकू बहुल गांव चूंचड़ा में (जहां उनकी आबादी 80 फीसदी है) जीवनयापन का एक बड़ा आधार प्रवास से होने वाली आय है। ऐसे प्रवासों के समय बच्चे भी उनके साथ चले जाते हैं अथवा घर की देखभाल करते हैं।

आदिवासी इलाकों में रोजगार की कमी के कारण कर्ज का व्यापार बढ़ा है। कर्ज चुकता करने के चक्कर में कोरकुओं को उपजाऊ जमीन महाजनों (गांव की ऊंची और पिछड़ी जाति) के हाथ कौड़ियों के भाव बेचनी पड़ी है। यहां बंधुआ मजदूरी की प्रथा भी बढ़ी है। आदिवासियों में इसे बरसूदिया कहा जाता है।

राज्य की नई वन नीति ने आदिवासियों को, जंगल पर परंपरागत निर्भरता से बेदखल किया है। अर्थाभाव से जूझ रही इस आबादी को अब एक नए तरह का संघर्ष झेलना पड़ रहा है। कई मौकों पर तो यह आर्थिक भ्रष्टाचार से शारीरिक शोषण की हद तक चला जाता है। पिछले कुछ वर्षों में आदिवासियों और सरकार के बीच यह टकराव लगातार बढ़ता गया है।

अध्ययन से संबंधित प्रायः सभी इलाकों में उच्च जातीय वर्चस्व दिखा। इसका समीकरण स्थानीय परिवेश और संसाधनों पर अधिकार पर निर्भर है। महादेवपुरा जैसे मिश्रित आबादी वाले गांव में राजपूत कास्तकार हैं। बाकी जातियां उनके खेतों में मजदूरी पर आश्रित हैं। आदिवासी गांव पवासा पर राजगोंडों का वर्चस्व है। सिंचित जमीन पर इनका ही अधिकार है। ठाठिया और प्रधान गोंडों की उपजातियां उनके काम में मदद करती हैं। ठाठिया, राजगोंडों के पशु चराते हैं, बदले में उन्हें अन्न मिलता है। प्रधान गोंडों का परंपरागत काम नाई का है।

इस जातीय वर्चस्व का स्थानीय प्रभाव राजनीतिक निर्णयों पर भी दिखता है। 2002 के दलित एजेंडा के तहत कुछ लोगों को भूखंड आवंटित हुआ। परंतु दबदबे वाली जातियों

के चलते लाभान्वितों का कब्जा नहीं हो पाया है। हरदा के पवासा में ठाठिया गोंड और प्रधान परिवार इसके उदाहरण हैं। उज्जैन में महादेवपुरा के बलाई, भूमिहीन मजदूरों को जो प्लॉट मिला है, वे इसे निम्न गुणवत्ता वाला बताते हैं क्योंकि उपजाऊ जमीन पर राजपूतों का कब्जा है।

ग्रामीण इलाकों में जातियां कठोर परंपरागत ढांचों में कसी हुई हैं। चूंचड़ा गांव में दुकानें ब्राह्मण, मुस्लिम और कहार (ओ.बी.सी) जातियों की हैं। आदिवासी इन्हें 'महाजन' कहते हैं। इनमें आपसी खान-पान और मेलजोल का रिश्ता नहीं है। उज्जैन के राजपूत बहुल गांव महादेवपुरा में बलाई और चर्मकार जातियों को मंदिर में जाने की अनुमति तो है, परंतु सामूहिक समारोहों में जातिगत दूरी का विशेष ध्यान रखा जाता है। दलित जातियों की अलग पंगत होती है। उज्जैन शहर के वाल्मीकि मोहल्ले (पारगंज) में वाल्मीकि जयंती और दुर्गोत्सव के लिए चंदा देने वालों में ऊंची जातियों के लोग भी हैं, लेकिन उत्सव में शामिल नहीं होते। दूसरी दलित जातियां भी वाल्मीकियों से परहेज करती हैं।

आदिवासियों से घृणा और दूरी बरतने के मामले में तो तरह-तरह की कहावतें प्रचलित हैं मसलन "जंगल और जमीन सुधर सकती है, लेकिन कोरकू नहीं।" बसों में यात्रा कर रहे आदिवासियों की बात-बात पर फजीहत की जाती है। दलित व आदिवासियों में शराब पीने की आदत को एक बड़े कलंक की तरह देखा जाता है और उनसे किसी तरह के मेल मिलाप से परहेज किया जाता है। दोनों ही समुदायों की महिलाओं के बारे में धारणाएं अच्छी नहीं हैं, उन्हें छेड़ने, फब्तियां कसने, अपमानित करने जैसी आदतें आम हैं।

ये समुदाय राज्य और राजनीतिक संस्थाओं को संदेह से देखते हैं। खासकर दलित जातियों में, अपने को वोट बैंक की तरह इस्तेमाल किये जाने के प्रति नाराजगी है। वे खुद को ठगा हुआ महसूस करते हैं। उनकी धारणा है कि पार्टी चाहे किसी विचारधारा की हो उनकी स्थिति में बदलाव नहीं आ सकता। उनका वोट देना अक्सर स्थानीय उम्मीदवार के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। अन्य दलित जातियों की अपेक्षा बैरवा और बलाई जातियों की स्थिति थोड़ी फर्क है। इन जातियों के प्रतिनिधि क्रमशः पार्षद, महापौर तथा विधायक, कैबिनेट मंत्री हैं। बाकी दलित जातियों के ऐसे प्रतिनिधि नहीं हैं जिनके साथ वे अपनी पहचान को जोड़कर गर्व कर सकें।

इन समुदायों को पंचायती राज के आने से अभी बहुत लाभ नहीं हुआ है। आरक्षण की बदौलत स्थानीय स्तर पर पंचायत समितियों में दलित और आदिवासी दिखाई देने लगे हैं। परंतु वे निर्णय लेने वाली भूमिकाओं में नहीं आ सके हैं। ऊंची जातियों की सत्तात्मक संरचना को चुनौती देना तो दूर की बात है। विकेन्द्रीकरण के दूसरे चरण में सरपंच के स्थान पर ग्राम सभा को महत्वपूर्ण बनाया गया है। इसके तहत गांव में समितियों का गठन किया गया है। लेकिन इस पूरे इलाके में किसी कारगर समिति का उदाहरण नहीं मिल सका। अभी भी इन समुदायों का बड़ा भाग जातीय पंचायतों पर भरोसा करता है। ऐसी पंचायतों की भूमिका मौजूदा राजनीतिक ढांचे में अधिक नहीं है।

स्कूल, समुदाय एवं नीतियां : अवधारणा व वस्तुस्थिति

सामाजिक भेदभाव

दलित और आदिवासी बच्चों के सरकारी स्कूल में बड़ी संख्या में आगमन को ऊंची जाति के लोग सहानुभूति से नहीं देखते। हालांकि साक्षरता अभियान जैसे कार्यक्रमों ने दलित, आदिवासी शिक्षा को वैधता दिलाई। जिसके कारण ऊंची जाति की प्रतिक्रियाएं कम दिखती हैं। फिर भी कोरकू गाँव के एक ब्राह्मण पालक कहते मिले, ''आदिवासी बच्चों के स्कूल में प्रवेश से स्कूलों का स्तर काफी गिर गया है। यदि मेरे पास विकल्प होता तो अपने बच्चे को दूसरे स्कूल में डालता। पर इस इलाके में सिर्फ एक ही स्कूल है।''

हरदा के सभी स्कूलों में और उज्जैन की वाल्मीकि बस्ती की सरकारी शाला (पारगंज) में जाति आधारित भेदभाव स्पष्ट रूप से दिखा। उच्च वर्ण के शिक्षकों और बच्चों द्वारा दलित और आदिवासी बच्चों को बेवजह डांटना और अपमानित करना आम बात है। एक खास मोहल्ले में बच्चों के स्कूल से भागने का प्रमुख कारण छुआछूत पाया गया। इन स्कूलों में मित्रता का प्रमुख आधार जाति है, एक ही जाति के बच्चे, कक्षा और उसके बाहर भी एक समूह में इकट्ठे रहते हैं।

पाठ्येत्तर गतिविधियां केवल दो उच्च शालाओं में दिखीं। ऐसी गतिविधियों में भी हरदा की शाला में कक्षा की भेदभाव वाली दशा ही दोहराई जाती है। स्कूल परिसर और
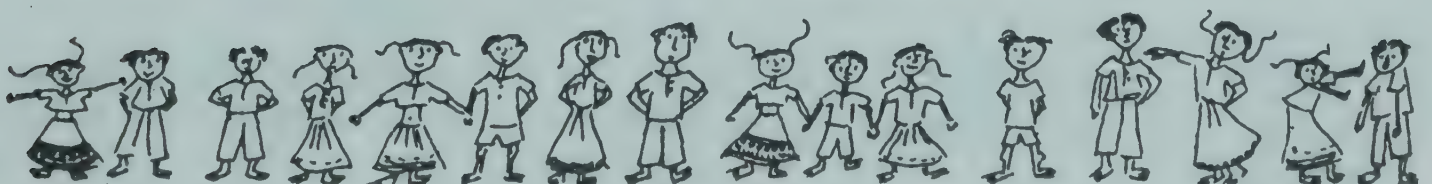
कक्षा की सफाई, चाय के बर्तन धोने जैसे काम आदिवासी दलित छात्रों को सौंपे जाते हैं। जबकि ऊंची जाति के छात्रों का जिम्मा कक्षा में ताला लगाना, शिक्षकों के लिए चाय तैयार करना, पानी पिलाना आदि होता है। इस घोर जातिवादी समाज में पानी पिलाने जैसा काम विशेष मायने रखता है, दलित और आदिवासी बच्चों को पानी पिलाने का हक प्राप्त नहीं है।

आमतौर पर शिक्षकों का सरोकार चंद तेज छात्रों से होता है। पूरी कक्षा को साथ लेकर चलना या उसे पठन पाठन में शामिल करना, दुर्लभ दृश्य है। यह पाया गया कि दलित और आदिवासी छात्र कक्षा में सबसे पीछे चुपचाप बैठे रहते हैं। संयोग से किसी शिक्षक का ध्यान उधर जाता भी है तो उनकी अयोग्यताओं को याद दिलाने के लिए।

वाल्मीकि और आदिवासी समुदाय से आए बच्चों की शैक्षिक क्षमता (एडुकैबिलिटी) पर ऊंची जाति के शिक्षक अक्सर सवाल उठाते पाये गये।[4] शिक्षक मानकर चलते हैं कि वाल्मीकि व आदिवासी छात्र अयोग्य हैं, इनका मानसिक स्तर कम होता है। इस तर्क को वे न पढ़ाने के बहाने के तौर पर भी इस्तेमाल करते हैं। चिंता की बात यह है कि मूल्यांकन के परंपरागत तरीकों के अनुरूप कुछ छात्रों के प्रदर्शन के बावजूद शिक्षक अपने रवैये पर कायम रहे हैं। इसका कारण शिक्षकों की सामाजिक पृष्ठभूमि है। स्कूल में भी वह इसलिए कायम रहता है क्योंकि वहां कोई समांतर प्रतिरोधी मूल्य नहीं है।

उज्जैन के स्कूलों में हरदा की अपेक्षा जातीय भेदभाव कम है, हालांकि वाल्मीकि बस्ती का सरकारी स्कूल इसका अपवाद है। उज्जैन के उच्च विद्यालय के बच्चों में अपनी जाति के बाहर दलित और गैरदलितों से भी मित्रता है। बच्चे अपनी कथित जातीय विशेषताओं से अनजान हैं, शायद यह भी उनकी दोस्ती का कारण हो। इस अलग माहौल के कई दूसरे कारक भी हो सकते हैं। इस स्कूल की स्थापना दलित और आदिवासी बच्चों के लिए की गई थी, जिनके अभिभावक उज्जैन की कपड़ा मिलों में काम कर रहे थे। स्कूल की देखरेख मिल मालिक निजी तौर पर करते थे। सत्तर के दशक में यह स्कूल सरकार को इस शर्त पर सौंपा गया कि स्कूल के किसी भी शिक्षक या कर्मी को हटाया नहीं जाए। उनमें कुछ पुराने शिक्षक अभी भी काम कर रहे हैं। मिल में संगठित कार्यशैली और श्रमिक संगठन की उपस्थिति एक ऐसा सामा़जिक माहौल रचती हैं जहां जाति और धर्म के भेदों की प्रासंगिकता कम हो जाती है। इस तरह स्कूल का विकास मिल के सामाजिक वातावरण में होना एक महत्वपूर्ण कारक है।

---

4 एडुकैबिलिटी की अवधारणा का विकास अमेरिका में नस्लवाद के संदर्भ में हुआ था। अश्वेत छात्रों को पढ़ाने वाले श्वेत शिक्षक उनकी सीखने की वंशानुगत अक्षमता को रेखांकित करते थे। उनका मानना था कि न सीख पाना एक नस्लीय दोष है।

उच्च विद्यालय में पढ़ने वाले बच्चों की उम्र भी एक पक्ष है। इस उम्र के बच्चों पर प्रत्यक्ष भेदभाव स्वाभाविक रूप से कम हो जाता है। हालांकि अभी भी कक्षा में इन समुदायों के बच्चों को कुछ मौकों पर 'हरिजन' कहकर संबोधित किया जाना चलन में है। **[जी करता है छात्रवृत्ति नहीं लूं]**

जाति आधारित भेदभाव के साथ-साथ शहरी-ग्रामीण, हिन्दू-मुस्लिम और लिंग आधारिंत भेदभाव भी प्रचलन में हैं। उज्जैन के इसी उच्च विद्यालय में शहरी ग्रामीण का भेद कक्षा में साफ दिखा। शहरी क्षेत्र के बच्चों की संगठित भागीदारी के आगे गांव से आवाजाही करने वाले बच्चों की भागीदारी नगण्य है। उज्जैन के ही गांव के माध्यमिक स्कूल में जाति आधारित कई टोलियां बनी हुई हैं। इनमें से एक मुस्लिम टोली है, जिसे 'पाकिस्तानी' भी कहा जाता है, अपनी ही कक्षा के दूसरे साथियों से कटा महसूस करते हैं। सरस्वती पूजा के सलाना उत्सव पर भी ये टोलियां इकट्ठे नहीं आतीं। सबसे पहले लड़कियों का समूह आता है, फिर स्थानीय लड़कों का समूह, तीसरा समूह दूसरे गांव से आने वाले बच्चों का होता है और सबसे अंत में मुस्लिम बच्चों का समूह पूजा करने आता है।

स्कूल की संस्कृति

आरक्षण के बावजूद गिनती में ऊंची जाति की तुलना में दलित आदिवासी शिक्षक कम हैं (देखें टेबिल 1)। शिक्षकों और सरकारी स्कूल में पढ़ने वाले छात्रों के सामाजिक परिवेश की बुनियादी विसंगति यहीं से शुरू होती है। शिक्षक दलित आदिवासी समुदाय के बच्चों को पढ़ाने के प्रति असंतोष जाहिर करते हैं। एक वाक्य जो अक्सर सुनने को मिलता है, "इन बच्चों में कोई संस्कार नहीं है।" यह असंतोष सीधे उन बच्चों तक संप्रेषित किया जाता है। हरदा की प्राथमिक और माध्यमिक शाला में आदिवासी बच्चों को नहीं नहाने, कंघी नहीं करने, साफ गणवेश नहीं पहनने आदि के लिए अक्सर दंडित होना पड़ता है। **[कक्षा अवलोकन]**

शिक्षकों की यह टिप्पणी छात्रों में 'सांस्कृतिक पूंजी' के अभाव से जुड़ती है। सांस्कृतिक पूंजी की अवधारणा को फ्रांसीसी समाजशास्त्री बूर्दो (Bordieu) ने विकसित किया। जिसका मतलब ऊंची संस्कृति में संस्कारित होना है। सामाजिक चतुराई, शालीन भाषा, शिष्टाचार और फैशन आदि इस पूंजी के अंग हैं। यही वह सांस्कृतिक पूंजी है जो प्रभुत्वशाली वर्ग के बच्चों को शैक्षणिक संस्थानों में विशेष दर्जा दिलाती है। भाषा का ही उदाहरण लें - चूंचड़ा की प्राथमिक और माध्यमिक शाला में भाषा को लेकर काफी परेशानी है। ऐसी दिक्कतें ज्यादातर कोरकू बच्चों को होती हैं। क्योंकि कोरकू और हिन्दी में काफी अंतर है। बच्चे इस स्कूली भाषा का उपयोग अपने घर में नहीं करते। इसके चलते वे कक्षा

कांचा इलैया का कहना है...

"हरेक जाति का मूल उसकी उत्पादन प्रक्रिया में होता है और उसकी भाषा उत्पादन के आस-पास बनती है। कुरूमा जाति सिर्फ भेड़ों, बकरियों पेड़-पौधों के बारे में ही नहीं जानती हैं, बल्कि वह उन औजारों के बारे में भी जानती हैं जिनसे ऊन बनता है और कंबल की बुनाई होती है। गौडा जाति ताड़ी चुआने संबंधी सभी औजारों, कौशलों और जरूरी गतिविधियों के बारे में विस्तार से जानती है।"

"मैंने कभी कोई पाठ्यपुस्तक नहीं देखी, जिसकी भाषा उत्पादन आधारित हो, ना ही मैंने पोचाम्मा, पोतराजू, कट्टामैंसम्मा, कैट्टमाराजु और वीरप्पा पर कोई पाठ देखे। ऐसा इसलिए नहीं कि इन देवी-देवताओं की कोई कथा ही न हो, दलित बहुजनों की कथा सुनकर आप मंत्रमुग्ध हो जाएंगे। इसका सामान्य सा कारण यह है कि अधिकांश लेखक जो संयोग से ब्राह्मण हैं, नहीं चाहते कि ये कथाएं लिखी जाएं और कॉलेज और स्कूलों की पाठ्य पुस्तकों में लगें। उनकी नजर में हमारे देवी देवताओं के नाम चर्चा की काबिलियत ही नहीं रखते।"

कांचा इलैया, दलित चिंतक (व्हाई आय एम नॉट ए हिन्दू, पृ. 6, 13)

में बोलने से घबराते हैं। उनकी संप्रेषण क्षमता का विकास नहीं होता है, शैक्षणिक विकास रुक जाता है। कक्षा की भाषा को न समझ और बोल पाने से वे कक्षा से कटाव महसूस करते हैं। ऐसे बच्चों का अलग ही समूह बन जाता है। **[सवाल भाषा का]**

बच्चों के गृहकार्य को लेकर शिक्षकों को अक्सर शिकायत रहती है। विशेष रूप से प्राथमिक शालाओं के शिक्षक कहते हैं कि इनके पालकों को बच्चों की पढ़ाई में कोई रुचि नहीं है। ये ना तो बच्चों को गृहकार्य पूरा करने में मदद करते हैं, न ही पूछते हैं कि स्कूल में क्या पढ़ाया गया और न ही उन्हें पढ़ने बिठाते हैं। उल्टे बच्चों से घर का काम करवाते हैं, जिससे पढ़ाई से उनका ध्यान हट जाता है और पाठ में अभिरुचि कम हो जाती है। कई दलित आदिवासी समुदायों में शराब पीना जीवन का हिस्सा है। ऐसे अभिभावकों पर शिक्षकों का आरोप है कि धन की बर्बादी के साथ-साथ ये आदत पढ़ाई के माहौल को नष्ट कर देती है। शिक्षक यह कहते नहीं चूकते कि इन अभिभावकों की रुचि बच्चों को स्कूल भेजकर सरकारी लाभ (जैसे गेहूं, ड्रेस, छात्रवृत्ति आदि) बटोरने में है।

इस तरह स्कूल की अपेक्षाओं के मापदंड और बच्चों के घर की स्थिति में गहरा फर्क है। स्कूल लगने का समय सभी स्कूलों में निर्धारित है। इसको बदलने का अधिकार स्कूलों को नहीं है (इ.जी.एस. शालाओं को छोड़कर)। यह समय, उन बच्चों व समुदाय की दिनचर्या से मेल खाता है या नहीं, जो स्कूल आ रहे हैं, इस पर ध्यान नहीं जाता। ग्रामीण इलाकों में बच्चों को मवेशी चराने या खेत में मदद करनी पड़ती है। लड़कियों के जिम्मे घर के काम होते हैं। एक तरह से बच्चों के लिए घर के काम अनिवार्य हैं। स्कूल का शैक्षिक कैलेण्डर अगर समुदाय के अनुरूप हो तो स्कूल में बच्चों की भागीदारी बढ़ेगी इसमें कोई शंका नहीं। फसल कटाई के महीनों में कक्षाएं खाली रहती हैं। आदिवासी गांवों में जहां घोर अभाव है, अप्रैल के महीने में गेहूं की कटाई के समय लोग परिवार समेत दूसरे गांवों में प्रवास करते हैं। यही समय स्कूलों में वार्षिक परीक्षा का भी होता है। चूंचड़ा के स्कूल न जाने वाले कुछ ऐसे बच्चे मिले जो प्रवास के कारण परीक्षा नहीं दे सके और स्कूल से बाहर हो गये। **[गोंड कोरकू खाये बोरकू चरावे डोरकू]**

इन समुदायों की सहूलियत के लिए स्कूली तंत्र ने अपने आपको किसी तरह से बदला है, यह नहीं दिखा। बच्चों को स्कूल आने के लिए प्रेरित करने वाले प्रयासों पर, ये जड़ता सवालिया निशान लगाती हैं। मामला बच्चों तक स्कूल की पहुंच का नहीं है बल्कि उनके शैक्षिक, मानसिक और सर्वांगीण विकास से जुड़ा है। यह तभी संभव होगा जब स्कूली तंत्र बच्चों की आकांक्षाओं और उनकी यथार्थ स्थितियों के प्रति संवेदनशील होगा।

स्कूली तंत्र एवं शिक्षक

कक्षा में आज भी पढ़ाने का परम्परागत तरीका ही हावी है। सरकारी स्कूलों के शिक्षक प्रशिक्षित तो हैं लेकिन कक्षा में इसका उपयोग नहीं दिखता। बहु-स्तरीय अध्यापन की आवश्यकता, छात्र-शिक्षक का असंतुलित अनुपात, विषयवार शिक्षकों का अभाव आदि को कक्षा में प्रशिक्षण के उपयोग न कर पाने का कारण बताया जाता है। परीक्षाओं का दबाव और केन्द्रीकृत कोर्स पूरा करने की हड़बड़ी, जो स्थानीय संदर्भ के लिए कभी-कभार ही उपयुक्त होती है, अध्यापन में नवाचार का मौका नहीं देते। अंततः शैक्षणिक कार्यों का दबाव ऐसा बहाना है जो रही सही संभावनाएं भी खत्म कर देता है।

शिक्षक गैर शैक्षणिक कार्यों के आगे असहाय दिखते हैं। उनका मानना है कि इससे बच्चों की पढ़ाई प्रभावित होती है। गैर शैक्षणिक कार्यों की सूची काफी लंबी है। ये कार्य शिक्षकों को इसीलिए सौंपे जाते हैं क्योंकि वे वेतनभोगी सरकारी कर्मचारी हैं। शिक्षक, नौकरशाही में सबसे अदना कर्मचारी होता है, लिहाजा वह वरिष्ठ अधिकारियों के किसी भी आदेश को नकार नहीं सकता। एक पक्ष यह भी है कि शिक्षक के प्रदर्शन को अधिकारी ही प्रमाणित करता है। स्कूलों का निरीक्षण करने वाले अधिकतर वे लोग होते हैं जिनका शिक्षा से कोई जीवंत रिश्ता नहीं होता। अतः निरीक्षण कुछ आंकड़ों की पड़ताल तक सीमित रह जाता है - मसलन, शिक्षक और बच्चों की उपस्थिति, स्कूल लगने का समय, स्कूल रजिस्टर में भरी जाने वाली नियमित जानकारियां और परीक्षाफल। शिक्षा के गुणात्मक पहलुओं पर तो शायद ही कभी ध्यान जाता है। **[हम तो सिर्फ पुरजे हैं]**

आलोचना

पढ़ाई की आकांक्षाएं सामाजिक व आर्थिक गतिशीलता से संबद्ध हैं। पालकों में बच्चों की शिक्षा की जबरदस्त मांग है। आदिवासी संदर्भ में कई तरह की अपेक्षाएं स्कूल से जुड़ी दिखीं, 'पढ़ेगा तो महाजनी भाषा बोल लेगा', 'हक नहीं लुटायेगा', 'हिसाब कर लेगा'। हालांकि इससे जुड़ी आशंकाएं भी हैं जैसे, ''पढ़ाई के बाद बच्चा खेत में काम करने लायक नहीं रह जाता, ऐसे में नौकरी नहीं मिलने पर बच्चों के परिवार पर बोझ बन जाने की संभावना रहती है।'' **[पढ़ाई क्यों?]**

आधुनिक स्कूल व्यवस्था का यह आलोचनात्मक पहलू है कि वह कहीं से भी आदिवासी व दलित समाज के अस्तित्व के संघर्ष से नहीं जुड़ती, उनको कोई व्यवहारिक या बाजार के अनुरूप कौशल नहीं देती। बल्कि वह मानसिक और शारीरिक श्रम में भेद पैदा करती है। यह आलोचना इसलिए और भी महत्वपूर्ण है क्योंकि यह उस समुदाय से आ रही है जिनके बच्चे बड़ी संख्या में सरकारी स्कूलों में पढ़ रहे हैं।

मध्यप्रदेश सरकार ने शिक्षा व्यवस्था की कमजोरियों से निबटने के लिए कुछ ढांचागत बदलाव किये हैं। इसमें शिक्षकों की नियुक्ति से जुड़ा विवादास्पद मामला भी है। सहायक शिक्षकों की नियुक्तियां बंद कर दी गई हैं। नए शिक्षकों की नियुक्ति कम तनख्वाह पर की गईं। स्थानांतरण, कार्यकाल की सुरक्षा और नियोक्ता संबंधी नए नियम, शिक्षक के प्रति कठोर हैं। साथ ही शिक्षा तंत्र का राजनीतिक व प्रशासनिक विकेंद्रीकरण हुआ जिसका लिखित उद्देश्य स्कूली शिक्षा को नौकरशाही से मुक्त करवाना है। राजनीतिक विकेंद्रीकरण के तहत अन्य चीज़ों के अलावा शिक्षकों पर नियंत्रण का अधिकार जिला, ब्लॉक और गांव के स्तर पर पंचायतों को सौंपा गया। प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण के तहत संकुल एवं जनपद स्रोत केन्द्र (जन शिक्षा केन्द्र, बी.आर.सी.) गठित किये गये जिनको अकादमिक और प्रबंधकीय निरीक्षण की जिम्मेवारी सौंपी गई। यह कदम शिक्षकों में उत्तरदायित्व और शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ाने के लिए लिया गया।

शोध संबंधित स्कूलों और समुदायों के संदर्भ में नई नीतियां अभी तक कागजी ही साबित हुई हैं। जबकि पुरानी नीतियां हटा दी गई हैं। ऐसी स्थिति में कई तरह की उलझनें और विरोधाभास पैदा हुए हैं।

इसी श्रृंखला में जन शिक्षा केन्द्र के जन शिक्षकों की गतिविधि को भी देखा जा सकता है। इनको साथी शिक्षकों के साथ शिक्षण, पाठ्यक्रम आदि विषयों पर बातचीत, समूह चर्चा कर उनकी कठिनाइयों को समझने और सुधार की दिशा में आगे प्रयत्न करने की जिम्मेवारी है। हरदा में हुई जन शिक्षकों की एक बैठक में आम सूचनाओं का आदान-प्रदान, फार्म या रिकार्डों की खानापूर्ति, जैसे काम शैक्षिक समस्याओं की साझेदारी पर हावी थे। माध्यमिक शाला, महादेवपुरा के जन शिक्षक पर संकुल के 12 स्कूलों की जिम्मेवारी है। साथ ही उनको अपनी पूर्व जिम्मेवारियों का निर्वाह भी करना पड़ता है।[5]

स्कूलों में निरीक्षण के लिए बहुस्तरीय संरचनाएं बनी हैं। इनमें जिला और ब्लॉक पंचायत एवं ग्राम शिक्षा समिति; जन शिक्षा केन्द्र, जनपद स्रोत केन्द्र और डायट (DIET); और ब्लॉक एवं जिला शिक्षा विभाग शामिल हैं। इन तमाम संरचनाओं का आपस में कोई संयोजन नहीं दिखता। किसी को यह स्पष्ट नहीं है कि स्कूलों में निरीक्षण का जिम्मा आखिरकार किसका है। शोध के सात-आठ महीनों के दौरान उज्जैन के शासकीय प्राथमिक शाला को छोड़कर किसी और स्कूल में निरीक्षण की बात सुनने में नहीं आई। न ही शोध क्षेत्र के किसी भी गांव की ग्राम शिक्षा समिति की कारगर सक्रियता दिखी।

---

5 उज्जैन और हरदा डी. पी. ई. पी. जिला नहीं है। डी. पी. ई. पी. जिलों में जन शिक्षक को बाकी जिम्मेदारियों से मुक्त कर दिया गया है। यानी उसे अपने मूल स्कूल, जहाँ वह पद स्थापित है पढ़ाना नहीं पड़ता।

शिक्षकों की नियुक्ति संबंधी नई नीति के सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों ही पहलू सामने आये। संविदा शिक्षक एवं शिक्षाकर्मियों की भर्ती से शिक्षकों की जातिगत पृष्ठभूमि में असंतुलन कम हुआ है। अनुसूचित जाति एवं जनजाति के शिक्षकों की संख्या में वृद्धि हुई है (बड़ागांव का उदाहरणः देखें टेबिल 1)। पर साथ ही यह भी तथ्य है कि विकेन्द्रीकृत ढांचे ने राजनीतिक पहुंच और आर्थिक भ्रष्टाचार को बढ़ावा दिया है। जो अब योग्यता पर भारी पड़ रहा है। शिक्षकों की भर्ती में लगने वाली रकम की जानकारी हरेक समुदाय को है।

ऐसा नहीं लगता कि इन नई नीतियों का शिक्षण पर कुछ असर हुआ हो। शिक्षकों में चर्चा के प्रिय विषय पदूस्थापना, पदोन्नति, स्थानांतरण, वेतनमान, महंगाई भत्ते की घट-बढ़ आदि हैं। चूंकि स्थानांतरण अक्सर राजनीतिक निर्णय होता है, शिक्षक की कोशिश स्थानीय प्रभावशाली नेताओं से सम्पर्क बनाये रखने की होती है। ट्यूशन एक नया कारक है जो इतना लाभप्रद है कि शिक्षक निर्धारित समय से ज्यादा समय स्कूल में नहीं लगाना चाहता - निर्धारित समय की सीमा स्थानीय संदर्भों पर निर्भर करती है। **[स्कूल बनाम ट्यूशन]**

इन सभी स्थितियों का सीखने-सिखाने पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उच्च मा. शाला, उज्जैन के प्रधानाध्यापक कहते हैं, "सरकारी दफ्तरों की तरह स्कूलों में भी कोई कार्य संस्कृति नहीं रह गई है।" आलम यह है कि यदि कोई सरकारी स्कूल सही समय पर लग जाता है, वहां नियमित रूप से कक्षाएं लगती हैं तो वह बधाई का हकदार है।

सरकारी प्रोत्साहन के बारे में पालक कहते हैं

"अगर हमें यह सुविधाएं नहीं भी मिलें तो भी हम बच्चों को स्कूल भेजेंगे, बशर्ते बच्चा वहां कुछ सीख पाये।"

शिक्षा नीति के दो हिस्से हैं। एक जो पूरी व्यवस्था से संबंधित है। और दूसरी जो सीमित वर्गों के लिए प्रोत्साहन के रूप में काम कर रही है। आज के संदर्भ में दोनों की ही जरूरत है, परंतु व्यवस्था संबंधित नीति ज्यादा प्रभावकारी और व्यापक है। ये नीति निर्धारित करती है कि स्कूल कैसे चल रहा है, बच्चे सीख पा रहे हैं या नहीं। पोशाक, छात्रवृत्ति आदि सहयोगी भर है।

विभेदीकरण

उज्जैन के पालकों में अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों के बजाए निजी स्कूलों में ही पढ़ाने की प्रवृत्ति दिखी, जो क्रमशः बढ़ती जा रही है। इसकी वजह वे सरकारी स्कूलों के गिरता स्तर बताते हैं। सक्षम पालक बच्चों के बेहतर भविष्य के लिए निजी स्कूल चुन रहे

हैं। स्वाभाविक रूप से ऐसे पालकों में अधिकतर उच्च जाति के हैं। बेहतर आर्थिक स्थिति वाले दलित भी यही रास्ता अपना रहे हैं। फलतः सरकारी स्कूलों में अधिकांशतः दलित व पिछड़े वर्ग के छात्र ही बचते हैं। जिनके अभिभावक सरकारी स्कूल को निजी स्कूल का कमजोर विकल्प बताते हैं। उच्च वर्ग का निजी स्कूलों में और वंचित समुदाय के बच्चों के सरकारी स्कूलों में दाखिल होते जाने से एक नई सामाजिक असमानता पनप रही है। **[दोहरा नामांकन]**

विभेदीकरण के लिंगवाची भेद भी हैं। उच्च वर्ग अपने बेटों को तो निजी स्कूलों में भेजता है और लड़कियों के हिस्से सरकारी स्कूल ही आते हैं। **[बच्चों में लिंगभेद]**

ये सरकारी और निजीं स्कूल में विभेद हैं। सरकारी स्कूलों - नवोदय, उत्कृष्ट और इ.जी.एस. शालाओं में भी इस विभेदीकरण को देखा जा सकता है। यह पूरी स्थिति एक तरह से साठ के दशक के 'कामन स्कूल की अवधारणा' को उलट देती है, जिसमें वर्ग, जाति, लिंग से निरपेक्ष सभी बच्चों के लिए एक ही तरह के स्कूल की परिकल्पना की गई थी। इ.जी.एस शालाओं का लक्षित समुदाय दलित और आदिवासी हैं। इनमें पर्याप्त शिक्षक नहीं हैं, पांच कक्षाओं का जिम्मा सिर्फ एक गुरुजी पर होता है। शिक्षक की योग्यता भी कोई बड़ा मायने नहीं रखती। नियमित अकादमिक मदद की व्यवस्था नहीं है। और तो और बुनियादी स्कूली ढांचा भी अनुपलब्ध है।[6] पवासा गांव की इ.जी.एस. शाला की स्थिति चितांजनक है। कक्षाओं के लगने, उपस्थिति दर्ज होने से लेकर स्कूल का समय सब अनियमित हैं। पालक इ.जी.एस. को टाइम पास केन्द्र बताते हैं। ''बच्चा बैठना भर सीख जाए'' बस उनकी इतनी अपेक्षा है। **[मंदिर में इ.जी.एस.]**

कुल मिलाकर ऐसी स्थितियां बनती जा रही हैं, जिससे पालकों के बीच सरकारी स्कूलों की साख लगातार घटती जा रही है। इसकी भयावह परिणति सरकारी स्कूलों के पूर्णतः बंद होने के रूप में देखी जा सकती है।

स्कूल और अभिभावक

पालक चाहे किसी भी जाति या वर्ग का हो, सरकारी स्कूलों से उसका संबंध अत्यंत कम दिखा। अपने समुदाय के प्रति शिक्षकों के विरोधी रुख को, दलित और आदिवासी पालकों ने आत्मसात कर लिया है। ये पालक स्कूलों में नहीं जाना चाहते क्योंकि उन्हें भय है कि उन्हें अपने बच्चों की शिकायतें ही सुनने को मिलेंगी। अनपढ़ होने के कारण उनमें

---

6 अगले दो-तीन वर्षों के भीतर सभी शालाओं के लिए भवन बनाने, सभी गुरुजी के लिए शैक्षिक डिग्री या डिप्लोमा की व्यवस्था करने संबंधी कुछ सरकारी घोषणाएं हाल ही में हुई हैं।

स्कूलों की शब्दावली की समझ नहीं है। कभी-कभार स्कूलों में पहुंचे पालकों के अनुभव अच्छे नहीं रहे हैं। हालांकि शिक्षकों की यह शिकायत, ''पालक समझते हैं कि स्कूल चलाना केवल सरकार की ही जिम्मेवारी है'', भी गलत नहीं है। हमने दोनों जिलों के मिश्रित आबादी वाले स्कूलों (बड़गांव, हरदा की उच्च माध्यमिक शाला एवं मोहनपुरा, उज्जैन की माध्यमिक शाला) में यह पाया कि समय से स्कूल नहीं लगना, पूरे समय कक्षा नहीं लगना जैसे मसले उच्च जाति के पालकों को भी बेचैन नहीं करते। मध्यप्रदेश के सरकारी स्कूलों में पालक-शिक्षक संघ के गठन से स्कूल और समुदाय का फासला कम होने की उम्मीद है।

समुदाय की भागीदारी एवं जन शिक्षा अधिनियम

वर्ष 2002 में मध्यप्रदेश सरकार ने जन शिक्षा अधिनियम पारित कर प्रत्येक बालक के प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त करने के संवैधानिक अधिकार को रेखांकित किया। इस उद्देश्य के लिए विकेन्द्रित ढांचे में समुदाय व अन्य संस्थाओं की भूमिका को भी नये रूप में देखा ग़या। अधिनियम का बड़ा हिस्सा 'संस्थाओं और अभिभावक या संरक्षक का उत्तरदायित्व' (तीसरा अध्याय) और 'सार्वजनिक जवाबदेही' (छठा अध्याय) से संबंधित है।

शिक्षा से जुड़े लोगों का मानना है कि यह कानून अभिभावकों, समुदायों, स्थानीय सरकारों को स्कूल के साथ सवाल-जवाब का सामर्थ्य देता है। हालांकि अंदेशा यह भी है कि दूसरे अधिनियमों की तरह कहीं यह भी सिर्फ कागजी न रह जाए। उनका अनुभव 'सशक्त समुदाय' की आवश्यकता पर जोर देता है जो स्कूल जैसी सार्वजनिक संस्थाओं पर उत्तरदायित्व का दबाव बना सके। मध्यप्रदेश के कई स्वयंसेवी संस्थान समुदायों के सशक्तीकरण के काम में लगे हैं। जिसमें सामाजिक व आर्थिक रूप से वंचित समुदायों पर विशेष ज़ोर दिया जा रहा है। ऐसा इसलिए भी क्योंकि यही वर्ग सरकारी निकायों पर सबसे अधिक निर्भर है।

आत्ममंथन

अंततः यह देखना महत्वपूर्ण होगा कि ये सभी मुद्दे दलित आदिवासी पहचान को कौन-सा रूप देते हैं। 'पहचान' से यहां तात्पर्य दलित आदिवासी समुदाय की अपने बारे में राय से है। यह पहचान ही व्यापक समाज के साथ उनके संबंध को निर्धारित करेगी। उसी से यह भी तय होगा कि भविष्य में दलित आदिवासी वास्तविक जीवन के संघर्षों से कितनी कुशलता से निपटते हैं।

स्कूल के भीतर और बाहर की वर्तमान तस्वीर आशाजनक नहीं दिखती। स्कूल में बच्चों को कई तरह से उनकी हीनता के बारे में याद दिलाया जाता है। बच्चे यह मानने

लगते हैं कि वे इसलिए नहीं पढ़ सकते क्योंकि उनके पालक अशिक्षित हैं। उनके घर गंदे हैं, उनको ठीक से कपड़ा पहनना नहीं आता। कई बार बच्चे इसको स्पष्टतः बोल नहीं पाते लेकिन यह भावना उनमें बहुत गहराई तक घर कर गई है। पालक यह कहते हैं कि उनके बच्चे फेल हो जाते हैं क्योंकि उनका दिमाग कमजोर होता है, उनकी तुलना 'महाजन' के बच्चों से नहीं की जा सकती। वे हताश होकर कहते हैं, "हमारी जाति नहीं सुधर सकती।" इन समुदायों के आगे बढ़े लोग, अपने समुदाय से अलग हटकर ही रहना चाहते हैं। कई बार तो अपनी पहचान भी छुपाना चाहते हैं। वर्चस्ववादी संस्कृति के चौतरफा दबाव ने दलित आदिवासियों को आत्महीनता की स्थिति में धकेल दिया है।

इस प्रसंग में, दलित आदिवासी शिक्षक भी असहाय स्थिति में है। ऊंची जाति के लोग शिक्षा को अपना इलाका मानते हैं। कम संख्या में ही सही इस पेशे में दलित समुदाय की पहली पीढ़ी आई तो है परंतु उन्हें यथोचित सम्मान और संतोष नहीं मिला है। उनको ऊंची जाति के शिक्षकों द्वारा अलगाव और अपमान झेलना पड़ता है। विडंबना यह है कि वे अपने सहकर्मियों से जो अपमान और दमन झेलते हैं, खुद कक्षाओं में अपने समुदाय के बच्चों से अपने साथी शिक्षकों जैसा ही व्यवहार करते हैं। दरअसल उनका विकास ही ऐसे तंत्र में हुआ है जिसमें विषमता मान्य है। वे यह समझ ही नहीं पाते कि शिक्षक के रूप में उनकी अलग भूमिका भी हो सकती है। **[फिर यहीं आकर फंस गई]**

दलित आदिवासी शिक्षा के संदर्भ में आज जरूरत महज इतनी भर नहीं है कि सरकारी स्कूल सही ढंग से चलें, इनमें आधारभूत सुविधाएं हों, भेदभाव न हो। इन समुदायों को ऐसी वैकल्पिक शिक्षा की जरूरत है जो उनमें सबल चेतना की रचना करें। ऐसी वैकल्पिक शिक्षा का कार्यक्रम मुक्ति के सामाजिक राजनीतिक संघर्ष से जुड़ा होना आवश्यक है। ■
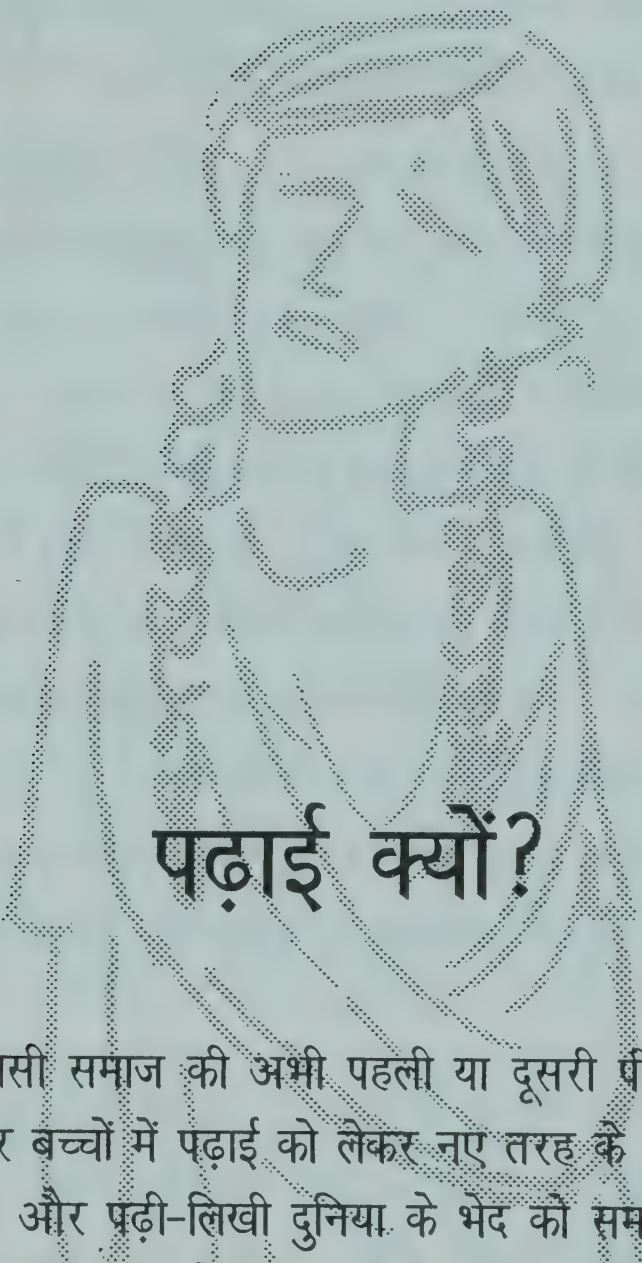
"शिक्षित बनो, संगठित हो, संघर्ष करो।"

– बाबा साहेब अम्बेडकर

पढ़ाई क्यों?

दलित या आदिवासी समाज की अभी पहली या दूसरी पीढ़ी ही स्कूलों में पहुंची है, अभिभावकों और बच्चों में पढ़ाई को लेकर नए तरह के उत्साह, आशाएं और सपने हैं। उनमें अपने परिवेश और पढ़ी-लिखी दुनिया के भेद को समझने और उनके जैसा होने की जद्दोजहद भी है। उन्हें लगता है कि पढ़ाई के जरिए अपने समाज की बदहाली और अभाव से लड़ सकते हैं। यह भी तथ्य है कि शिक्षा का सीधा मतलब नौकरी से बंधा दिखता है। नौकरी नहीं मिलने की घोर असफलताएं भी हैं, फिर भी पढ़ाई के प्रति आशावादिता कायम है।

आदिवासी समाज में महाजन का स्तर हासिल करना, पढ़ाई का लक्ष्य है। इसलिए तुरंत यह सुनने को मिलता है- पढ़-लिखकर बच्चा महाजन समाज में इज्जत से बैठ सकता है। उसमें होशियारी आ जाती है। अपना हक लुटाता नहीं। कुछ काम करने, अपना शरीर पालने लायक हो जाता है। कोई छोटी-बड़ी नौकरी भी कर सकता है। दुकान, सिलाई या कोई धन्धा कर सकता है और कुछ नहीं तो खेती ही ठीक से कर लेगा। खेत की सफाई करने, खाद-पानी देने जैसे काम समय से करना भी तो कम महत्वपूर्ण नहीं। ये बातें हरदा जिले के सुदूर आदिवासी गांवों के पालकों से चर्चा के दौरान उभरकर आईं।

यह प्रवृत्ति भी दिखी कि यदि किसी समुदाय का एक बच्चा पढ़ने लगे तो उसकी देखा-देखी दूसरे लोग भी अपने बच्चों को भेजते हैं। केवलराम का कहना है कि ''अब तो

हमारे कोरकू समाज के बहुत बच्चे स्कूल जाने लगे हैं। काफी सुधार हुआ है। लोग बच्चों को पढ़ा रहे हैं पहले तो एकाध बच्चा ही स्कूल जाता था।''

गंगाराम कोरकू पढ़े-लिखे नहीं हैं। फिर भी अपने बच्चे को इस विश्वास से पढ़ने भेजते है, ''पढ़ाने में अभी तो खर्च है, पर बाद में फायदा है। सर्विस नहीं मिली तो कोई बात नहीं, विद्या तो जीवन भर साथ में रहेगी। स्कूल में जाने से बच्चे को बुद्धि आ जाएगी। हमेशा चार बात अक्ल की करेगा। अनपढ़ आदमी की बिरादरी के हाथ में कुल्हाड़ी, दराती रहती है। पढ़ने वालों के हाथ से कलम चलती है।'' गंगाराम हमेशा ख्याल रखते हैं कि स्कूल में बच्चा क्या कर रहा है। उसके साथ के लड़कों से पूछते रहते हैं कि वह पढ़ रहा है या नहीं। उनका यह सरोकार गौर करने लायक है। गंगाराम का दूसरा बच्चा अनपढ़ है। उसके बारे में उनकी राय भिन्न है - घर पर बैठा रहता है, स्कूल से डरता है। ढोर चराना, चोरी से बीड़ी-तम्बाकू खाना, उसका काम है। कुछ काम बताओ तो सुनता नहीं है।

सर्वे के दौरान यह बात खास तौर पर उभरी कि पढ़ने वाला बच्चा आज्ञाकारी होता है। किसी चीज की जरूरत हो तो मांग लेता है, चोरी नहीं करता। कुछ गलती हो जाये, तो माफी मांग लेता है आदि।

नीमा के पिता शिवराम कोरकू लगभग 70 वर्ष के हैं। महाजनी (हिन्दी) बोलने की कोशिश करते हैं लेकिन जल्दी ही कोरकू पर उतर आते हैं। उनको महाजनी बोली नहीं आने का मलाल है, ''महाजनी भाषा में नहीं बोलने से लोग हंसते हैं। स्कूल में जाने से कम से कम बोलना आ जाता है, आफिस के साहब लोग से बात करना सीख लेते हैं। हमारी बोली सुधर जाती है।'' शिवराम अपनी बेटी को दसवीं तक पढ़ाना चाहते हैं, और उनकी कामना है कि वह सर्विस करे। एक आदिवासी पिता का यह सपना काफी महत्व का है। उनकी बेटी आगे की कक्षाओं में जा पायेगी या नहीं, यह दीगर बात है।

यह अनुभव हुआ कि बच्चों को पढ़ाना, स्वयं की जिम्मेदारी समझी जाने लगी है। संभवतः इसके पीछे पालकों के निजी अनुभवों का बहुत हाथ है। वे नहीं चाहते कि बच्चे को उन तकलीफों का सामना करना पड़े, जो उन्होंने अनपढ़ होने के कारण अपनी जिन्दगी में उठाई हैं।

राजेन्द्र गाडोलिया, अपने अनपढ़ माँ-बाप की इकलौती औलाद है। लोहे के औजार बनाना उनका पुश्तैनी काम है। लेकिन उसके माँ-बाप राजेन्द्र को पढ़ाना चाहते हैं। वे नहीं चाहते कि उसकी जिंदगी भी गर्म लोहे पर हथोड़े चलाते हुए बीते। उनका सपना है कि राजेन्द्र पैंट-शर्ट पहनकर मोटर सायकिल पर बैठकर ऑफिस आए-जाए।

आत्माराम मालवीय किसान हैं। वे अपने बच्चों, निमेष और निलेश को समझाते हैं,

''देख लो रात-दिन मजदूरी करके भी पेट पालना मुश्किल है। हमने नहीं जाना कि सुख किसे कहते हैं, जानवरों की ज़िन्दगी है हमारी। तुम लोग पढ़ लो, नहीं तो हमारे जैसा जीवन ही जीना पड़ेगा।''

राहुल चर्मकार के पिता बापू जी कहते हैं, ''मेरे पिताजी दूसरी तक पढ़े थे। वो चाहते थे कि मैं जातिगत धंधा छोड़कर पढ़ूं-लिखूं और नौकरी करूं। परन्तु स्कूल में मेरे साथ दुर्व्यवहार होता था। स्कूल न जाऊं तो माता-पिता पीटते थे और स्कूल में बच्चे मुझसे दूर भागते थे। क्योंकि मैं उनके लिए अछूत था। लिहाजा मैं स्कूल छोड़कर जंगल में भाग जाया करता था। परेशान होकर अन्ततः मैंने पढ़ाई छोड़ दी। अब समझ में आता है कि पढ़ाई का कितना महत्व है। मैं अपने बच्चों को पढ़ाऊंगा।''

50 वर्षीय जनकराम कोरकू किसान हैं। उनके तीनों बच्चे अब स्कूल नहीं जाते। जनकराम अफसोस करते हैं, ''अरे साहब, हम पढ़ जाते तो कांई (क्या) बात थी, फिर अपुन ऐसा बक्खर छाप (अंगूठा छाप) नहीं रहता, कुछ तरक्की हो जाता, अब अपुन पछतारया। अपना बच्चा स्कूल छोड़कर नहीं भागता। सारा (सभी बच्चे) अच्छा से पढ़ जाता। ठोकर लग गया, इसलिए अपुन सोचता है कि अपना बच्चा पढ़ जाए। एक बच्चा पढ़ गया तो पूरा घर को सुधार देगा। हमारा समाज गन्दा रहता है, पढ़ जाएगा तो साफ सफाई से रहेगा। समाज में पुछ (सम्मान) हो जाएगा।''

लोगों के मन में यह बात गहराई तक बैठी है कि उनके पिछड़ेपन और शोषण का कारण अशिक्षा है। शिक्षा को वे अपना हक प्राप्त करने और मौजूदा स्थिति से मुक्ति का साधन मानने लगे हैं। दादूराम आशावान हैं, ''पंचायत में सभी अपनी मनमानी कर रहे हैं। हमारा बच्चा पढ़कर कानून सीख जाएगा, किसी भी अधिकारी से बात कर लेगा। फिर न तो लाला हमें लूट पाएगा न कोई दूसरा हमारा हक खा पाएगा। अपन तो सौ रुपया भी ढंग से नहीं गिन पाते। बच्चा पढ़ जाएगा तो गिनकर लेगा, अपना हक लुटाएगा नहीं।''

ग्रामीण इलाके के आदिवासी समाज में पढ़ाई को लेकर एक रुमानियत है। संभवतः यह शिक्षा से जुड़ी स्वयंसेवी संस्थाओं और सरकारी महकमे के जोरदार प्रचार का प्रभाव है। स्कूल के भीतर चाहे जो कुछ घटित हो रहा हो, बाहर से उसके प्रति आकर्षण तो बढ़ा है। परंतु जिस समाज को पढ़ाई का कुछ अनुभव मिल चुका है वह दूसरी जटिलताओं को गहराई से समझने लगा है। एक पालक अपनी बात को कुछ इस तरह से रखता है, ''ज्यादा पढ़ाने से क्या फायदा! बच्चा न तो खेत के लायक रहता है और न ही उसे नौकरी मिलती है। गांव के एकमात्र पढ़े लिखे व्यक्ति वंशी की ओर इशारा करते हुए वे कहते हैं थोड़ी देर धूप में काम करने से ही इसे चक्कर आने लगते हैं। इसीलिए मैं तो अपने बेटे को स्कूल भेजने के साथ-साथ खेती का काम भी करवाता हूं।''

उज्जैन शहर के दलित पालकों से बातचीत में नए तरह के तथ्य सामने आए। यह बात उभरी कि बच्चा जैसे-जैसे प्राथमिक शाला से माध्यमिक या उच्चतर शाला की तरफ बढ़ता है तो पालकों की अपेक्षा रोजगार और अन्य आर्थिक अवसरों को हासिल करने की ओर बढ़ती जाती है। वे लगातार यह पता लगाते रहते हैं कि किस तरह की पढ़ाई से उन्हें कौन-सा बेहतर अवसर मिलेगा। विशेषकर शहरी पालक आरक्षण के तहत खुलने वाली संभावनाओं से वाकिफ हैं और अपने बच्चों को उसके लिए किसी भी तरह तैयार करने की कोशिश करते हैं। हालांकि उन्हें इस बात की भी जानकारी है कि आरक्षण की सुविधा प्राप्त करने के लिए सिर्फ पढ़ाई ही पर्याप्त नहीं है। आत्माराम उदाहरण देते हैं, ''एक शिक्षाकर्मी की नियुक्ति के लिए हमारे यहां चालीस हजार रुपये की दर तय है।''

स्कूल जाने वाले कोरकू व गोंड बच्चे अपने भविष्य के लिए आशान्वित हैं। वे मानते हैं कि पढ़ाई करने पर उनको रोजगार मिल जाएगा, नहीं तो वे कोई छोटा धन्धा शुरू कर सकते हैं। इस लक्ष्य में गुरुजी बनने से लेकर राशन की दुकान चलाने या फिर सिलाई करने के काम भी शामिल हैं।

पवासा गांव का सेवाराम गोंड छटवीं में पढ़ता है। वह पढ़कर गुरुजी बनना चाहता है। उसकी कक्षा के प्रदीप कोरकू का कहना है, ''मैं तो दसवीं तक पढ़ूंगा, और नौकरी नहीं मिली तो सिलाई मशीन का काम करूंगा।'' छटवीं कक्षा के ही गैर आदिवासी बच्चों की पढ़ाई

से अपेक्षाएं बिल्कुल अलग हैं- सूरजचन्द (ब्राह्मण) की पढ़कर पुलिस बनने की इच्छा है। कादिर खान वकील या फिर डाक्टर बनना चाहता है।

बच्चे जिस परिवेश में रहते हैं आस-पास की दुनिया का सूक्ष्मता से अवलोकन करते रहते हैं। इसका असर उनके सपनों पर दिखता है। उज्जैन के पारगंज स्कूल के सुनील का सोचना था, ''मोहल्ले में मेरे से बड़े लड़के भी हैं जो आवारा घूमा-फिरा करते हैं। खूब-पढ़े लिखे हैं। उनको देखकर मुझे भी लगता था कि पढ़कर क्या मिलेगा। इससे तो काम करना ही अच्छा।'' लेकिन अब स्कूल के बारे में उसकी धारणा बदली है, ''पर एक बात है कि स्कूल जाने से कई फायदे हैं। वहां नई-नई बात सीखते हैं - आप करके बोलना, गाना, बजाना। नहीं पढ़ो तो 'कबाड़ी' (अटाला बीनने वाला) बन जाएंगे। स्कूल जाओ तो बड़े लोग बनेंगे- इंजीनियर, डॉक्टर। इसलिए वह स्कूल जाता है और पढ़ाई करके पेन्टर बनना चाहता है।

गैर स्कूली बच्चा दुर्गा (कोरकू) उदास होकर कहता है ''आपुन कांई करेगा (क्या करेंगे) खेती, धाड़की, बैल-ढोर चरायेगा कोई लमझण्या (घर जंवाई) जाएगा, तो कोई बरसुदिया (किसान के साथ वर्ष या 6 माह का समझौता) करेगा। ऐसे ही धक्का खाता घूमेगा, चैत करेगा, घाम (धूप) में घूमेगा, और अब क्या करेगा, कांई (कुछ) नहीं कर सकता।'' ■

कक्षा अवलोकन

स्कूल में कक्षा अवलोकन के दौरान एक शिक्षक ने मुझसे पूछा, "आपने कभी प्राथमिक स्कूल में पढ़ाया है?"

"कभी-कभार" मैंने कहा।

उन्होंने दावा किया कि मैं उनके यहाँ भी बच्चों को कुछ दिन पढ़ाकर देखूं अगर वे कुछ सीख गए तो पूरे स्कूल के सामने वे मेरा सम्मान करायेंगे। इस चुनौती का आशय यह था कि कोरकू बच्चों को पढ़ाना कठिन कार्य है, इतना कठिन कि उन्हें कोई पढ़ा ही नहीं सकता।

....

एक दिन हम स्कूल की कक्षा तीन में गए। कक्षा में एक कोरकू छात्र, चमनलाल के साथ मैडम बहस कर रही थीं। दूसरे छात्रों से पता चला कि मैडम ने दो बार चमनलाल का बस्ता उठाकर पीछे फेंक दिया था। चमनलाल इस घटना से बहुत दुखी था और अपना विरोध दर्ज कर रहा था। दरअसल बस्ते में खाने की रोटियां भी रखी हुई थीं। पहली बार तो चमनलाल कुछ नहीं बोला, पर दूसरी बार उसने साहस करके कह दिया, "मैडम इसमें हमारी रोटी है, इसे मत फेंको।" मैडम अपनी गलती मानने की बजाय, चमनलाल के गांव के आदमी से उसकी शिकायत करने लगीं। इस घटना पर चमनलाल बहुत रोया, उसका कहना था कि मैडम पढ़ाती नहीं, हमें मारती ज्यादा हैं।

....

स्कूल में लगातार आने-जाने से बच्चे हमसे घुलमिल गए थे। एक दिन टिफिन में हमने बच्चों से कहा कि आज हम भी उनके साथ खाना खाएंगे। हमारी बात सुनते ही वे भागकर घर गए और 10 मिनिट के भीतर खाना ले आए। कुछ बच्चे डिब्बा लाए थे। कई बच्चे खाना नहीं लाए थे। जिनके घर स्कूल के पास थे वे घर जाकर ही खाना खाते थे। हमने भोलू, रंजन, संजू, केशनु, सुधीर के साथ बैठकर खाना खाया। आरिफ करीम व भरत ने अलग बैठकर अपना खाना खाया। ना तो किसी को दिया ना ही किसी का खाना लिया। लक्ष्मी, सलमा, तस्लीम तीनों लड़कियों ने मिल-बांटकर खाना खाया। शब्बो, खुशबू, रेहाना, वहीदा ने अपना-अपना खाना खाया।

खाना खाने के एक घंटे बाद जब आरिफ करीम व भरत साकल्ले अकेले थे, तब हमने उनसे पूछा कि तुमने संजू, भोलू के साथ खाना क्यों नहीं खाया? आरिफ करीम ने कहा, ''सर भोलू के पापा नाई हैं।'' भरत, आरिफ करीम के सिर पर हाथों से कैंची चलाने का अभिनय कर रहा था। हम कुछ और पूछते इतने में घंटी लग चुकी थी। बच्चों में इतनी छोटी उम्र से ही भेदभाव की यह बात चौंकाने वाली थी। हम उम्मीद कर रहे थे, बच्चों के साथ लगातार बैठने, उनसे बातचीत करते रहने से शायद कुछ बदल सकता है।

....

प्रार्थना की घंटी बज चुकी थी। सारे बच्चे लाइन से खड़े थे। लाइन थोड़ी टेढ़ी थी। बच्चों की गपशप जारी थी।

अचानक जोशीजी (शिक्षक) ऑफिस से बाहर निकले। बच्चों पर नजर डाली और 'घुटना टेक' का आदेश दे दिया। आठवीं के कुछ बच्चों को सोटी (संटी) लाने को भेजा।

बच्चे समझ ही नहीं पा रहे थे कि उन्हें 'घुटना टेक' क्यों कहा गया है। जोशी जी की बात इसका जवाब थी, ''हजार बार बोला है कि जैसे ही घंटी बजे, चुपचाप आकर लाइन में खड़ा हो जाया करो, पर मानते ही नहीं!''

लड़के सोटी तोड़कर ला चुके थे। बच्चे कंकड़ से भरे मैदान में मूर्तिवत 'घुटने टेक' थे, उनकी तकलीफ हमसे देखी नहीं जा रही थी। कुछ ही मिनट पहले की उनकी चहचहाहट गहरी उदासी में बदल चुकी थी।

....

सुबह के दस बजने वाले हैं। हम यहां चूंचड़ा की माध्यमिक शाला के बाहर बैठे हैं। कुछ बच्चे आ चुके हैं और खेल में मशगूल हैं। कुछ घेरा बनाकर किताब के पन्ने पलटते हुए किसी चर्चा में व्यस्त हैं। विद्यालय का अपना खेल का मैदान नहीं है, लेकिन आसपास का माहौल खुला है। शाला मुख्य मार्ग पर है इसलिए पड़ोसी गांवों के बच्चे भी यहां पढ़ने आते हैं।

10:30 पर स्कूल के कमरे खुले। बच्चों ने कमरों की सफाई की। ठीक ग्यारह बजे दो शिक्षक शाला पहुंचे। उनके आते ही प्रार्थना की घंटी लगी। सभी बच्चे कक्षावार लाइन में खड़े हो गए। लड़कियां अलग खड़ी हुईं। प्रार्थना के बाद एक शिक्षक ने फीस, ड्रेस और बैठक व्यवस्था संबंधी कुछ हिदायतें दीं। इसके बाद पहले लड़कियां लाइन से अपनी-अपनी कक्षा में चली गईं, पीछे-पीछे लड़के भी अपनी कक्षा में गए।

शाला में आज दो ही शिक्षक उपस्थित हैं। स्वाभाविक है तीन कक्षाओं (छटवीं, सातवीं, आठवीं) में से कोई एक कक्षा खाली बैठेगी। एक शिक्षक ने पहले सातवीं व आठवीं कक्षा की हाज़िरी ली और आठवीं कक्षा को पढ़ाना शुरू कर दिया। दूसरे शिक्षक दफ्तर में हमसे बातचीत करते रहे। शाला में 187 बच्चों का नामांकन हुआ। इनमें 80 प्रतिशत छात्र आदिवासी हैं। कुल चार शिक्षक हैं। मौका ताड़कर हमने पूछा - आज स्कूल कुछ देरी से शुरू हुआ?

''निर्धारित समय साढ़े दस बजे है। परंतु ग्यारह, साढ़े ग्यारह के बीच ही स्कूल लगता है,'' शिक्षक ने बेफिक्र होकर बताया।

इस बीच हमने कुछ बच्चों के साथ चर्चा की। बच्चों की बातचीत और अपने अवलोकन में हमने पाया कि जिस दिन प्रधानाध्यापक आते हैं उस दिन स्कूल सुबह साढ़े दस बजे लग जाता है। इस दिन समय पर नहीं आने वाले बच्चे को सजा भी मिलती है। प्रधानाध्यापक का स्कूल आना जाना कम्पनी बस पर निर्भर है। वे इसी बस से स्कूल आते हैं और दोपहर बाद इसी बस से लौटते हैं। सामान्यतः प्रधानाध्यापक नहीं आते, कभी एक शिक्षक आता है, कभी दो। चारों शिक्षक तो कभी कभार ही इकट्ठा होते हैं। शिक्षक का जब तक मन होता है एक ही कक्षा को पढ़ाते रहता है। बाकी कक्षाओं के बच्चे खेल या शोर के जरिए समय बिताते हैं।

....

आज हम प्राथमिक शाला की कक्षा तीन में बैठे हुए थे। सुमन, नीमा, लता पुस्तक से पाठ की नकल उतारने में व्यस्त थीं। अख्तर और राजेश लड़ रहे थे। राजेश बार-बार बचने के लिए मैडम-मैडम चिल्ला रहा था। इस बीच राजेश एक बार सर से शिकायत कर आया था। शोर बढ़ता जा रहा था।

आखिरकार मैडम 12.10 पर कक्षा में आयीं। आते ही उन्होंने तीन-चार लड़कों की धमाधम पिटाई कर दी। कहने लगीं कि तुमने चिल्लाया मैंने पजाया। शोर थम गया। कक्षा में कापी, किताब निकालने की आवाज आ रही थी।

मैडम के कक्षा में प्रवेश का अंदाज अनोखा है। घुसते ही वे तीन चार बच्चों पर सटासट चांटा जमा देती हैं। फिर तो पूरे समय कक्षा उनके नियंत्रण में रहती है।

मैडम ने निर्देश दिया, ''पाठ निकाल लिया सबने? चलो, पाठ की नकल लिखो।''

सवा बारह बजे वह इस कक्षा से निकलकर पांचवीं कक्षा में चली गईं। मैडम की यह आवाजाही चलती रही, वे अकेले ही दोनों कक्षाओं को संभालती हैं। 12.17 पर वे पुनः कक्षा तीन में आयीं और साड़ी का पल्ला कमर में खोंसकर बोलीं, ''निकाल लिया सबने पाठ? पाठ क्या है?''

कई लड़के एक साथ : पाठ छह

मैडम : पाठ छह, 'काम धंधे! धंधे और धंधा में अंतर है। धंधे एक (थोड़ा रूककर उन्होंने पूरी कक्षा पर नजर फेरी)

फिर बोली- धंधा किसे कहते हैं? ऐसा कार्य --

उनकी नजर निर्मला से मिलती है- क्यों रे, ओए! नाक साफ करके आ।

केशनु और सुधीर के पास पुस्तक नहीं थी, वे कॉपी में लिख रहे थे। मैडम का ध्यान भोलू पर ज्यादा था। भोलू पढ़ने वाला होशियार लड़का है। मैडम निर्मला के पास गईं और उसे दो झापड़ लगाकर कहा- नाक साफ करके आ। उसकी नाक हमेशा बहती रहती है।

मैडम पढ़ाने लगीं। उनकी आँख बच्चों की गतिविधियों पर बराबर टिकी हुई थी।

तभी एक लड़का कक्षा से बाहर जाने लगा।

मैडम : क्यों रे! तुमको समझ नहीं बैठती, समझाती हूँ तो बाहर जाते हो? वे रंजन की तरफ मुड़कर बोलीं, क्या बना रहा है? फिर लता की तरफ देखकर बोलीं, लता, ओ लता! क्या कर रही है? तेरी किताब कहां है?

लता : घर पर है।

मैडम : घर पर क्या कर रही है? नीमा तुम्हारी किताब कहां गई?

नीमा : मैडम, फाड़ दी।

मैडम : सुमन, तू उसको किताब दिखा, नहीं तो कुछ नहीं समझेगी।

सुमन नीमा को किताब दिखाने लगी। मैडम से नजर मिलते ही तस्लीम, खुशबू की तरफ इशारा कर बोल उठी, "मैडम इसने मेरी भी किताब फाड़ दी।" निर्मला के पास भी किताब नहीं थी। खिड़की के पास बैठी शबाना बेर खा रही थी, मैडम की झुकती-उठती गर्दन के साथ खिड़की से गुठली फेंकने का ताल बिठा रही थी। इधर मैडम की गर्दन झुकती उधर गुठली खिड़की के बाहर।

पढ़ाना जारी रहा............

कई लोग वस्तु बनाते हैं। जैसे किसान फसल बोता है, किसान फसल नहीं उगायेगा तो हमको नहीं मिलेगी। पाठ में आगे एक प्रश्न आया, मैडम ने बच्चों से पूछा - दादा-दादी क्या करते हैं?

बेटी ने खड़े होकर बताने की कोशिश की। मैडम ने दूसरी लड़की का साहस बढ़ाया- बेटा फिर हम भी बताएंगे, खड़े होकर दादा-दादी के काम बता दो।

आशीष : मैडम, झाड़ू लगाती है।

भरत : मैडम, दादी बच्चे को खेलने व घूमने ले जाती है।

इसी बीच पांचवीं का एक लड़का मासूम सा चेहरा बनाकर बोला - मैडम, बाहर जाएं।

मैडम : नहीं।

(बच्चा कुछ इस तरह का स्वांग करता हुआ वापस चला गया मानो उसे जोर की पेशाब आई हो। बाकी बच्चे उसकी इस अदा पर मुस्कुरा उठे। सबको यह पता है कि बाहर जाने के लिए पेशाब का बहाना सबसे अधिक कारगर है।)

किताब में अभ्यास का पन्ना दिखाकर मैडम बच्चों से बोलीं- इस तालिका में अपने-अपने पिताजी के काम के बारे में लिखना है।

शबाना की तरफ देखकर बोलीं - किसी के पिताजी चक्की चलाते हैं।

खुशबू की तरफ देखकर कहा - कोई दुकान लगाता है।

भोलू को देखकर बोलीं - कोई बाल काटता है। इस बार भरत और आशीष हँस पड़े। मैडम ने उनकी इस प्रतिक्रिया पर ध्यान नहीं दिया।

तालिका भरने वाले इस अभ्यास में कुछ बच्चों को मज़ा आने लगा था।

अगली तालिका अपने भाई के काम बारे में जानकारी देने की थी।

शबानाः मैडम, मेरा भाई चक्की चलाता है।

खुशबू : मेरा भाई दुकान पर बैठता है।

इस वक्त मैडम का ध्यान शबाना, खुशबू, तस्लीम पर ही था।

तस्लीम : मैडम, मैं पेंसिल से लिखूं?

मैडम : हां, पेंसिल से लिखो। लिख लिया सबने?

भरत : मैडम, नहीं।

मैडम : भरत! जल्दी लिख।

12.34 पर उन्होंने फिर से पाठ का थोड़ा हिस्सा पढ़ा और बोलीं, ‘‘तालिका घर से भर कर लाना। नहीं आए तो माँ-बहन से भरवाकर लाना।’’ (हमारे मन में यह सवाल गूंज रहा था, कोरकू बच्चों के न तो माँ-बाप पढ़े लिखे हैं न ही पड़ोसी। वे किससे भरवा कर लायेंगे।)

अचानक निर्मला कुछ इस तरह से उठ खड़ी हुई मानो छुट्टी होने वाली है। उसे देखकर मैडम चिल्लाईं - ओ निर्मला, निर्मला बहुत पागल लड़की है।

12.35 पर घंटी बजी।

मैडम बच्चों से बोलीं, " जाओ पानी पी आओ।"

बच्चे बस्ता बंद कर बाहर गये।

12.45 पर फिर घंटी बजी।

बच्चे धीरे-धीरे कक्षा में आने लगे।

मैडम दूसरी तालिका दिखाते हुए बोलीं- बढ़ई क्या बना रहा है बताओ?

फिर खुद ही कहा - लिखो, मैं लिखती हूँ।

और बोर्ड पर लिखना शुरू किया।

मिस्त्री क्या करता है? बढ़ई क्या बनाता है?...

इस तरह मैडम तालिका भरवाने लगीं। वे खुद बोलतीं और खुद ही लिखती जातीं।

लक्ष्मी, नीमा, लता बातें कर रही थीं।

मैडम ने बोर्ड पर लिखते हुए पूछा-लोहार क्या बनाता है?

अख्तर : लोहार गाड़ी के पहिए सुधारता है।

सभी बच्चे : फावड़ा, गैंती बनाता है।

शायद बच्चों ने ये सभी चीजें देखी थीं। आशीष लिख नहीं रहा था। उसके पास पहुंचकर मैडम ने पूछा- लिखा आशीष?

आशीष : मैडम, नहीं लिखा।

मैडम ने उसको जोर से तीन-चार चांटे लगाए। चांटे जोरदार थे। हमने गौर किया आशीष से वे कुछ ज्यादा ही चिढ़ती हैं। हमें यह पता चला कि आशीष ने अपने पापा से शिकायत की थी कि मैडम पढ़ाती नहीं हैं। उसके पापा ने भी हर जगह यह कहना शुरू कर दिया कि मैडम कुछ नहीं पढ़ातीं।

अब मैडम ने पुस्तक को बोर्ड पर फैलाया और निशान लगाने लगीं।

हमने देखा बच्चे स्वतः कुछ नहीं कर पा रहे थे। कुछ बच्चे बोर्ड के पास आकर मैडम की कॉपी में देखते और नकल करते।

मैडम : नाई की तो बहुत चीजें है भैया। नाई को कैंची भी लगती है। तुमको तो पता होगा ही। आगे खुद से कर लोगे?

ऐसी किसी भी पूछ-परख पर बच्चे उत्साहित हो जाते हैं। यह अलग बात है कि वे पूछी हुई चीज को ठीक से समझते भी हैं या नहीं।

बच्चे : (जोर से) कर लेंगे। (उन्हें इसका अंदाज है कि ऐसा बोलने पर मैडम खुश हो जाती हैं।)

मैडम : मिस्त्री को काम करते किसने देखा है?

किसी ने कुछ नहीं बताया तो वे खुद ही औजार के नाम लिखाने लगीं। फिर बोलीं- "बताओ मोची को क्या लगता है? विकास बताएगा, उसके पापा चमार हैं। हां रे विकास बता।"

मैडम के मुंह से 'चमार' शब्द सुनकर सारे बच्चे चौंक गये, सभी विकास की तरफ देखने लगे, विकास भी सहम गया। इसके बाद मैडम ने डॉक्टर के औजारों के बारे में सवाल किए। मैडम को भी कई औज़ारों के नाम नहीं मालूम थे। उन्होंने शबाना की गाइड से मदद ली और लिखने लगीं।

यहां एक बात गौर करने लायक थी, मैडम ने उन बच्चों को बार-बार उठाया जिनके माता-पिता किसी खास धंधे से संबधित थे। किसी बच्चे से उसके पारिवारिक धंधे से जुड़े सवाल पूछने में कोई गलत बात नहीं है। आपत्ति पूछने के तरीके पर थी, शायद इसीलिए जिन प्रश्नों के उत्तर बच्चों को उत्साह से देना चाहिए था वे चुप हो जा रहे थे।

कुछ बच्चों को छोड़कर सारे बच्चे बोर्ड पर से मैडम द्वारा बताई तालिका को उतार रहे थे। इस बीच रंजू के सिर पर एक झापड़ पड़ा। "ध्यान नहीं देता, तेरी बहन से पेन लेकर आ" आदेश देकर मैडम बाहर की कुर्सी पर बैठ गईं। फिर वहीं से बोलीं - राधा कहां भाग गई? ऐ! बातें मत करो। रंजू बोर्ड पर लिखी तालिका उतारने लगा था।

1.28 पर आधी छुट्टी (टिफिन) की घंटी बजी।

....

2.50 पर मैडम फिर से कक्षा में आईं।

आधी छुट्टी के बाद पहले की तुलना में बच्चे कम हो गये थे।

मैडम : क्यों चिल्ला रहे हो, काम करो, लिखो।

नीमा सोयाबीन भूनकर लाई थी और कक्षा में ही खा रही थी। कुछ बच्चे पढ़ रहे थे। आशीष, अख्तर लड़ रहे थे। तस्लीम ने अपने जगह के सामने का कचरा साफ कर अख्तर की जगह पर डाल दिया। अख्तर बाहर गया हुआ था। फिर लौटकर कचरा देखा और बाहर से झाड़ू लाकर साफ किया। झाड़ू को कक्षा से ही बाहर फेंककर बैठ गया।

सोकीलाल बाहर जाने की छुट्‌टी मांगने लगा।

मैडम : (खीझकर) दिन भर पानी, पेशाब की छुट्‌टी मांगते हैं साले।

आशीष और सुधीर बेर खा रहे थे।

मैडम : क्या खा रहा था रे? हजार बार बोला है कक्षा में बेर मत खाया करो। खाकर यहीं गुठली फेंक देते हैं।

हमने देखा मैडम के मुंह में भी बेर की गुठली थी। वे भी अपने बैग में से बेर निकालकर खा रही थीं।

3.06 पर ब्लैकबोर्ड साफ कर 'गणित' लिखा गया। मैडम ने आशीष को एक चांटा मारकर कहा- कॉपी निकालो ना। पीछे के लड़कों की तरफ देखकर कहा - ऐ! बताऊं क्या रे? ऐ सामने देख रे। सब बच्चे कॉपी में लिखो। ये क्या लिखा है?

बच्चे- नौ पैसे।

मैडम : अंठानवे

मैडम अचानक पीछे गईं और शिव, सुरेश को दो-दो चांटे मारकर कॉपी निकालने को कहा। फिर वे पूरी कक्षा में चहलकदमी करते हुए बोलती रहीं :

''जो लिख लेगा उसको पास करूंगी। नहीं तो फेल कर दूंगी।

जो लिखकर दिखा देगा उसको छुट्‌टी दे दूंगी।

नीमा बात मत कर।

सुमन क्रम से जमाकर लिख। बढ़िया राइटिंग में उतारना।

राधा बहुत मार खाएगी।

वो वाली तालिका भी भरकर लाना। ये वाले गणित भी।

दो विषय का काम पूरा होना चाहिए।''

समझाने के क्रम में रंजू को दो झापड़ पड़े। फिर सुरेश पिटा। सुरेश के पास पेन नहीं था। इसके बाद निर्मला पिटी, उसके पास कॉपी नहीं थी। मैडम उसे ज्यादा मारती हैं। वह बहुत चंचल है, मार खाती है और फिर से अपनी हरकतें दोहराने लगती है।

मैडम 3.26 पर बाहर गईं।

3.32 पर लौटकर बच्चों से पूछा : लिख लिया?

बच्चे : नहीं।

मैडम 3.39 बजे पांचवीं में वापस चली गयीं।

जाते हुए हमें बताया, "कक्षा पांचवीं बोर्ड है इसलिए हम ज्यादा ध्यान उसमें लगाते हैं।"

....

आज हिन्दी की कक्षा थी। मैडम ने बच्चों से पूछा - कहां तक हो गया पाठ।

बच्चे : मैडम, पाठ दस।

मैडम : हिन्दी के प्रश्न-उत्तर हम बाद में लिखा देंगे।

उन्होंने पढ़ाना शुरू किया, "पाठ दस मोर।"

मैडम : मोर देखा है, कैसा होता है?

कुछ फूलिया व जंगल में रहने वाले लड़के बोले- जी देखा है। चूंचड़ा के बच्चों ने हाथ नहीं उठाए।

मैडम : जिन बच्चों ने हाथ नहीं उठाया था उनकी तरफ देखकर - फिल्म में देखे होंगे। मोर क्या है?

सुधीर : पक्षी।

मैडम : मोर राष्ट्रीय पक्षी है। राष्ट्र का सबसे बड़ा जानवर कौन है?

खुद ही उत्तर दिया - शेर। फूल में सबसे अच्छा कमल है। ऐसे ही सबसे अच्छा पक्षी मोर है। मोर के उड़ने वाले पंख होते हैं।

अब वे कुर्सी पर बैठ कर पढ़ाने लगीं।

मैडम : इन तीनों का नाम याद रखना- राष्ट्रीय पशु, राष्ट्रीय फूल, राष्ट्रीय पक्षी। मोर को राष्ट्रीय पक्षी माना जाता है।

मैडम एक लाइन पढ़तीं और बच्चे उसको दुहराते। मैडम हाव-भाव के साथ ये पंक्तियां पढ़ा रही थीं। शायद यह पाठ पहले भी पढ़ाया जा चुका था। इसलिए बच्चे अपने मन से भी अभिनय कर रहे थे। नीमा अभिनय नहीं कर पा रही थी।

मैडम : मोर के नाचने से पता चल जाता है कि बारिश होगी। चिड़िया धूल में नहाती है तो कहते हैं ना कि बारिश होगी। मोर को नाचते हुए देखा है कि नहीं?

बच्चे चुप थे।

मैडम : मोर नाचता है तो उसके पंख फैल जाते हैं। जब हम नाचते हैं तो हाथ-पैर, गर्दन मटकाते हैं न। मोर नाचता है गर्दन हिलाकर। मोर के सिर पर कलगी होती है, जैसे दूल्हा-दुल्हन सजे होते हैं न, वैसे।

बच्चों को इस पाठ में बहुत आनंद आ रहा था। इस पाठ में उनकी भागीदारी भी थी।

तभी कोई समस्या लेकर पांचवीं की लड़की आ गई। उस लड़की के आने से पाठ का मजा किरकिरा हो गया। मैडम, उस लड़की को सवाल समझाने लगी।

....

मैडम ने आज पाठ दस के शब्दार्थ लिखाए। वे बोलती जातीं और बोर्ड पर लिखती जातीं। बोर्ड छोटा पड़ रहा था।

मैडम : आसमान में क्या रहते है?

शब्बो : चाँद, तारे।

मैडम : पानी में क्या रहते हैं?

कोरकू बच्चे बोले : मछली।

दीपक : मेढक।

मैडम ने लोकेश को चिमटा खोटा, "अरे इंग्लिश नहीं, हिन्दी निकाल।" उसकी आँखों में आंसू आ गये थे। फिर मैडम बोलीं, "जो स्कूल नहीं आते उनको अनाज नहीं मिलेगा।"

मैडम : जल्दी-जल्दी लिख। अभी तक लिख रहा है?

राहुल के सिर पर एक चांटा पड़ा।

भरत : मैडम, लोकेश ने भी नहीं लिखा।

मैडम : लोकेश क्यों नहीं लिखा?

वह कुछ जवाब दे उससे पहले ही उसके पास जाकर एक चांटा मारा, और बोलीं- घर जाकर लेकर आ कॉपी। लोकेश अपना गाल सहलाता हुआ घर की तरफ भागा।

मैडम : जल्दी लिखो रोहन। नहीं तो मैं मिटा दूँगी।

खीझकर वे उसके पास पहुंच गईं।

मैडम को पास खड़ा देख रोहन डर गया।

वे रोहन की कॉपी देखकर बोलीं, "गलत लिख रहा है। जैसा तेरा भाई कर रहा था न वैसा ही तू भी कर रहा है। एक साल तेरा भाई फेल हो गया, तेरा भी वही होगा।"

उन्होंने बच्चों को आदेश दिया, ''सब बच्चे लिखना, कॉपी जाचूंगी।

थोड़ी देर के लिए वे पांचवीं कक्षा में चली गईं। उनके जाते ही कुर्सी पर विकास बैठ गया।

थोड़ी देर में ही वह वापस आ गईं। विकास को कुर्सी पर बैठा देखकर, मैडम आगबबूला हो गईं - क्यों रे तू ऊपर क्यों चढ़ा?

विकास : मैडम, उनको बता रहा था।

मैडम : उसकी आँख नहीं थी?

विकास को जोरदार दों झापड़ पड़े।

....

आज मैंने सूरज की कॉपी देखी। वह बोर्ड पर लिखे शब्द को देखकर भी सही-सही नहीं उतार पा रहा था। उसने बादल को *बदले* लिखा था। घटाएँ को *घटावे*, ठंडी को *ठाठी*। सोकीलाल ने भी धीरे-धीरे को *धीर धीर* लिखा था। सुधीर ने मोर को *चोर* और भीमसिंग ने ठंडी-ठंडी को *ठंडा-ठंडा* लिखा था। दीपक ने बादल को *बदल*, हवाएँ को *हवएँ* । लक्ष्मी ने भी मोर को *चोर* लिखा था।

मैडम ने आते ही शिव को ठोका। बोलीं- लिखा नहीं।

शिव : मैडम, लीड नहीं चल रही।(जबकि लीड चल रही थी। मैं उसके पास ही बैठा था।)

मैडम : जा भाई से लेकर आ। लिखेगा नहीं तो और कान के पास भी मारूंगी (शिव का कान दुखता है)। रोहन ने अब भी नहीं लिखा। सूरज की कॉपी देखकर मैडम बोलीं, ''पढ़ने नहीं आता पर लिखता अच्छा है।''

आशीष के पास जाकर, ''आशीष तू दिखा। तू बोर्ड के पास बैठा था तब क्यों नहीं लिख रहा था।''

आशीष ने नहीं लिखा था। उसको दो-तीन झापड़ पड़े।

लता की कापी में भी बादल को *बादव*, मोर को *मीर* लिखा था। मैंने सोकीलाल की कॉपी देखी। उसने अंतिम को *संतिम*, ध्वनि को *ध्वन*, गाते को *माते* लिखा था।

मैडम भी इस बात पर ध्यान नहीं दे रही थीं कि किसने गलत लिखा या सही। हमने गौर किया कि वे कक्षा के कुछ ही बच्चों की कॉपी देखती हैं- जैसे शब्बो, सुमन, भोलू, भरत, केशनु आदि,दो चार और सबकी नहीं। और आगे पढ़ाने लगती है। वह सभी बच्चों पर ध्यान नहीं देती।

....

आज मैडम ने बोर्ड पर गाय का चित्र बनाया, हमसे बोलीं, 'सर, इनको बनाकर मत देना। इंग्लिश ऐसे ही सीखेंगे। चित्र देखकर इनको याद रहता है।'

विकास और भोलू आपस में बात कर रहे थे।

भोलू : मैडम गाय बना रही है।

कुछ बच्चे बोले- हाथी है?

मैडम : अरे हाथी नहीं, गाय है। अरे कोई भी हो, तुम तो बना लो।

सोकीलाल मैडम को चित्र बनाते देख बोला - मैडम गाय के सींग नहीं बने।

मैडम : अरे तू बना ले। बड़ा आया सींगवाला। हमसे जैसा बना वैसा बना दिया। (राजेश की कॉपी देखकर) कितनी अच्छी गाय बनाई राजेश ने। पूँछ ऐसी नहीं, टेढ़ी बनी हुई है।

फिर बाहर जाकर कुर्सी पर बैठ गईं। वहां से बोलीं - सब बच्चे बनाएंगे और सब मेरे से चेक कराएंगे।

राधा कॉपी लेकर आई।

मैडम : देखो रे, इसने बिल्ली बनाई। अच्छी बनाई। और बनाना।

अब बारी सूरज की थी।

मैडम : ये डोफला-डोफला क्यों बनाया? सबसे पहले तो मुंह बनाना सीखो। फिर वो बोर्ड पर बताने लगीं - ऐसे मुंह बनाना, आँख बनाना..... बिल्ली बन गई।

कक्षा में पांचवीं वाले बच्चे झांक रहे थे, तो खुशबू, तस्लीम, शबाना एक साथ ताना कसने लगीं - पांचवीं वालों आ जाओ, प्रसाद बंट रहा है। लता, नीमा कार्बन से गाय का चित्र कॉपी में उतार रही थीं। आज दीपक, निर्मला, सुरेश, शिव और भी कई बच्चों के पास पुस्तक नहीं थी, ताकि वे देखकर चित्र बना लें। शब्बो ने गाय बनाकर मैडम को दिखाई। सोकीलाल ने बिल्ली बनाकर दिखाई।

ऐसे मौके बहुत कम आते हैं जब सभी बच्चे काम में लगे हों। काम में होते हुए भी उनका शोर कम नहीं होता। शोर से मैडम को बहुत चिढ़ है। ऐसी दो कक्षाओं को एक साथ संभालना वह भी पूरे दिन, आसान तो कतई नहीं है।

वे मुझसे कहने लगीं - सर इनको बाहर खेलने ले जाओ। मेरा तो सिर दुखने लगता है इनको पढ़ा-पढ़ाकर। इनको कुछ समझ में ही नहीं आता। इनके माँ-बाप भी कुछ नहीं बोलते, सिखाते। मुझे अकेले ही दो-दो कक्षाएं संभालनी पड़ती हैं। पांचवीं बोर्ड है, ज्यादा ध्यान देना पड़ता है। बच्चे घर से काम करके नहीं लाते हैं और मेरी शिकायत करते हैं। इनके माँ-बाप भी मान लेते हैं। अपने बच्चे की गलती नहीं देखते, न ही उनको पढ़ने को बोलते हैं।

मैं बच्चों को बाहर ले गया। उनसे रस्सी कूद व ऊंची कूद लगवाई।

....

छुट्टी का समय होते ही बच्चों को घर भागने की जल्दी होती है। लेकिन इस स्कूल में छुट्टी के ठीक पहले राष्ट्रगान का रिवाज है। आज के राष्ट्रगान में लय नहीं थी। हम आगंतुकों को देखकर शायद बच्चे शरमा रहे थे। एक शिक्षक ने यह कहकर कि राष्ट्रगान को एक ही लय में अच्छे से गाना चाहिए, खुद गाना शुरू कर दिया। बच्चों ने उनके साथ दो बार राष्ट्रगान दोहराया। इसके बाद उन्होंने नैतिक शिक्षा व शिष्टाचार पर चर्चा की। दूसरे शिक्षक ने छटवीं के एक लड़के को खड़ा कराया और पूछा, क्यों रे आज नहाकर आया है?'

बच्चा : नहीं सर!

(लड़के की बड़ी बहन, जो आठवीं में पढ़ती है, की ओर देखकर)

शिक्षक : क्यों री, ये तुम्हारी बात मानता है?

लड़की ने गर्दन नीचे कर ली, कोई जवाब नहीं दिया।

शिक्षक ने दो-तीन बार अपना सवाल दोहराया।

लड़की : नहीं, यह मेरी बात नहीं मानता।

यह सुनकर शिक्षक आगबबूला हो गया और बच्चे के बाल पकड़कर दो तमाचे दिए। कोरकू भाषा में कुछ कटाक्ष किया, जिससे सभी बच्चे हंसने लगे। शर्मसार भाई-बहन गर्दन नीचे करके बैठ गए।

मामला यहीं पर नहीं रुका।

शिक्षक ने नया सवाल दागा - "जिस-जिस लड़की के सिर में जूँ हैं वह हाथ ऊपर उठाए।" किसी भी लड़की ने हाथ ऊपर नहीं उठाया। शिक्षक के दो-तीन बार कहने पर भी लड़कियों ने हाथ नहीं उठाया।

दो शिक्षक, डेढ़ सौ बच्चे और बाहर के दो व्यक्तियों के सामने कैसे कोई लड़की हाथ उठाए। और कैसे यह स्वीकार करें कि उसके सिर में जूँ है।

अन्त में शिक्षक ने धमकाया - मैं सभी का सिर चेक करूँगा।

लड़कियों ने डरकर हाथ उठाना शुरू कर दिया।

हमने गौर किया, सभी आदिवासी लड़कियों के हाथ ऊपर हैं। इस मिडिल स्कूल में कुल 16 लड़कियां हैं जिसमें से सात आदिवासी हैं। उनके चेहरे पर आत्मग्लानि और असहायता के भाव थे। शिक्षक के चेहरे पर सफलता का संतोष था।

"यदि शनिवार (जो तीन दिन बाद ही था) तक जूँ खत्म नहीं हुई तो भयंकर परिणाम होंगे। मैं एक-एक लड़की का बाल खुलवाकर चेक करूँगा।" शिक्षक ने फिर से चेतावनी दी। लड़कियां चुप बैठी थी जैसे उन्हें सांप सूंघ गया हो।

हमारे मन में कई सवाल थे। ऐसी घटनाएं बच्चे पर क्या प्रभाव डालती होंगी? बच्चे कैसे अपमान सहन करते होंगे? शिक्षक बच्चों के साथ अपने उपरोक्त व्यवहार से क्या अहसास दिलाना चाहते थे? शायद उनकी मंशा बच्चों में साफ-सफाई की प्रवृत्ति बढ़ाने की रही होगी, परन्तु वे जिस तरीके का इस्तेमाल कर रहे थे, शैक्षणिक व्यवहार में वह किस हद तक स्वीकृत है? यहां शिक्षक की एक उचित मंशा पूर्णतः असंवेदनशील व्यवहार में अभिव्यक्त होती दिखी।

मुझे गांव के एक पालक की बात याद आई, "बाप राख में पैदा हुआ तो बच्चा धूल में ही खेलेगा। हमारे कोरकू समाज में सफाई का ज़्यादा ध्यान नहीं रखते हैं। स्कूल जाने वाले को दो जोड़ी कपड़ा, शीशा (आईना) कंघा, तेल, साबुन लगता है। कहां से लाएं?"

रामशरण जोशी की पुस्तक 'आदिवासी समाज और शिक्षा' का एक उद्धरण प्रासंगिक है, "उदयपुर की भील बहुल तहसील कोटरा में एक शिविर के दौरान जब आदिवासी लोगों से पूछा गया कि हमारे दुश्मन कौन-कौन हैं? तो लोगों ने जूँ और खटमल को भी अपना दुश्मन बताया।" क्या जूँ और गरीबी का कोई अंतर्संबंध है? सुनने में यह बात अटपटी लग सकती है, परन्तु दलित और आदिवासियों के लिए महत्वपूर्ण है। जूँ के खत्म होने के लिए गरीबी को खत्म करना होगा। जो किसी शिक्षक की धमकी से दो-तीन दिन में खत्म नहीं हो सकती। ■

यहाँ भी छुआछूत!

संविधान का अनुच्छेद 17 : " 'अस्पृश्यता' का अंत किया जाता है और उसका किसी भी रूप से आचरण निषिद्ध किया जाता है।......"

भारतीय संविधान न केवल सभी तरह की छुआछूत की प्रवृत्ति को पूरी तरह से खत्म करने की बात करता है बल्कि सामाजिक रूप से दलित और वंचित लोगों के उत्थान के लिए सकारात्मक उपाय करने की सलाह भी देता है। साथ ही वह संस्थाओं के सवैधानिक आचरण के लिए आदर्श खाका निर्धारित करता है। परंतु अनुभव यह है कि संस्थाएं संविधान के आदेश का पालन करने में अक्षम रही हैं। यहां तक कि छुआछूत की हिंसक घटनाओं को सामान्य मानकर स्वीकार कर लिया जाता है। स्कूली परिवेश में जारी कुछ घटनाएं गौर करने लायक हैं।

प्राथमिक शाला की नौ वर्षीय छात्रा कोयल अपना अनुभव सुनाती है, "स्कूल में लड़कियां मुझे मेहतरानी की छोरी कहती हैं, चिढ़ाती हैं और दूर बैठने को कहती हैं।" कोयल के साथ दोस्ती और टिफिन बांटने की बात तो कल्पना से परे है, उसके हाथ से किसी बच्ची का खाना छू जाए तो वे उसे खाती नहीं, कुत्ते को डाल देती हैं। स्कूल की चपरासी उसे घड़े का पानी पीने से रोकती है। मैडम उसकी कॉपी नहीं छूतीं, फीस हाथ में नहीं लेती, टेबिल पर रखवाती हैं। इस तरह के व्यवहार से कोयल इतनी व्यथित है कि अब स्कूल ही नहीं

आना चाहती। कोयल का कसूर है कि वह एक ऐसी जाति में पैदा हुई जिसका काम, साफ-सफाई करना है। और समाज में उस काम को निचले दर्जे का काम माना जाता है।

बुलबुल की कहानी भी कोयल जैसी है। वह तो स्कूल जाना छोड़ चुकी है। उसकी जाति भी वाल्मीकि है, उसने अपने साथ हुए दुर्व्यवहार का प्रतिरोध किया। परन्तु शिक्षिका ने उसकी एक न सुनी। रो-धोकर वह घर वापस आ गई। उसके पिता स्कूल में हुए दुर्व्यवहार का गुस्सा हमारे ऊपर उतारते हैं, "जरा स्कूल में जाकर देखो शिक्षक हमारे बच्चों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं। चपरासी महाजन के बच्चे को ग्लास में भरकर पानी पिलाती है, हमारे बच्चों को घड़े के पास जाने नहीं देती। हमारे बच्चों को अछूत, मेहतर, गंदा कहकर बुलाया जाता है।"

बुलबुल के पिता यह शिकायत लेकर स्कूल के शिक्षकों से भी मिल चुके हैं। लेकिन शिक्षकों ने उनकी बात को अनसुना कर दिया। वे कहते हैं, "शिक्षक बच्चों को समझा नहीं सकते। वे समझाएंगे क्या खुद भी तो हमें नीच ही समझते हैं।" उनका अफसोस शिक्षकों के व्यवहार के प्रति भी है। उन्हें शिक्षकों से उम्मीद थी कि वे बच्चों की गैर बराबरी, और आपसी घृणा के भाव को कम करेंगे। लेकिन उनका रवैया भी भेदभाव का ही दिखता है। "कितनी मुश्किल से बच्चों को स्कूल भेजते हैं। स्कूल में जब ऐसा दोहरा व्यवहार होगा तो बच्चे वहां कैसे टिकेंगे?" हमसे वे सवाल करते हैं।

बड़ागांव के एक मोहल्ले में पांच वाल्मीकि परिवार हैं। किसी भी परिवार का बच्चा स्कूल नहीं जाता। कुछ बच्चों ने स्कूल जाना शुरू तो किया था, लेकिन जल्दी ही बंद भी कर दिया। 18 वर्षीय राकेश ने स्कूल का अपना अनुभव सुनाया। स्कूल में एक दिन किसी बच्चे ने पखाना कर दिया। शिक्षक ने उसे पकड़कर साफ करने को कहा, राकेश को यह बात अपमानजनक लगी, "सर किसी और बच्चे से भी तो सफाई के लिए कह सकते थे।" उसने पखाना साफ करने से मना कर दिया। फिर क्या था - शिक्षक ने जमकर पिटाई की। राकेश ने घर लौटकर पूरी घटना अपने पिता को सुनाई। उसके पिता ने स्कूल जाकर शिक्षक से कहा "आप साफ-सफाई का काम हमसे करा लिया करो, बच्चों से न कराओ।" परन्तु शिक्षक के रवैये में बदलाव नहीं आया। राकेश बाद में भी शिक्षकों के लिए साफ-सफाई का पुश्तैनी काम करने वाली जाति 'मेहतर' का ही बेटा रहा। शिक्षक के इस रवैए से उबकर राकेश ने पढ़ाई छोड़ दी। निश्चित तौर पर उसके मन में स्कूल को लेकर अलग सपने रहे होंगे।

अक्सर ऐसा होता है कि एक सीमा के बाद प्रतिरोध, हार में बदल जाता है। बच्चे या तो स्कूल जाना बंद कर देते हैं अथवा मन मारकर अपमान सहते रहते हैं। उमा के लिए उसकी माँ ने शिक्षिका के साथ स्कूल मे जमकर संघर्ष किया। अंततः हारकर उमा ने स्कूल

जाना छोड़ दिया। वह अपने स्कूल के दिनों को इस तरह याद करती है, "मैडम ताना मारती थीं कि स्कूल में पता नहीं कहां से बलाई, चमार सब भर्ती हो गई हैं। आता-जाता कुछ नहीं चले आते हैं हमारा दिमाग खाने। पढ़ाई से इन्हें मतलब नहीं है, ये तो छात्रवृत्ति लेने के लिए आती हैं।"

स्कूल में मैडम का दूर-दूर रहना ताकि बच्चों से छू न जाएं, सवाल पूछने पर फटकारना, उमा को अभी तक याद है। मैडम हमेशा कहती थीं, "बलाई, चमार के बच्चों पीछे बैठो।" कुछ पूछने पर ताना मिलता - झगड़ने आते हो यहां, समझाते वक्त ध्यान कहां था? आँख फूट गई है क्या? बहरे हो गये थे?

एक दिन उमा अपनी सहेलियों के साथ मिलकर प्रधानाध्यापक से शिक्षिका की शिकायत कर आई। मैडम को डांट तो पड़ी, लेकिन उनकी आदत नहीं सुधरी। उल्टे उन्होंने शिकायत करने वाली लड़कियों की फिर से पिटाई कर दी। बात उमा की माँ तक पहुंची, तो वे स्कूल आईं और शिक्षकों पर जमकर बरसीं। लेकिन बात ढाक के तीन पात ही रही। रोज-रोज का ताना, अपमान और पिटाई सहने की बजाय लड़कियों ने स्कूल छोड़ने का निर्णय ले लिया।

स्कूल ऐसी ज़गह है जहां लोकतांत्रिक मूल्यों को विकसित किया जा सकता है, समाज के जातीय ढांचे को चुनौती दी जा सकती है। बच्चों में किसी तरह का भेदभाव पनप रहा हो तो शिक्षक व समुदाय का यह दायित्व बनता है कि उसे खत्म करने की पहल करें। लेकिन शिक्षकों के व्यवहार भी अक्सर सामाजिक रूढ़ियों की तरफ झुके हुए लगते हैं। अलबत्ता ये स्थितियां स्कूल के इन नवागंतुकों में स्कूल के प्रति विकर्षण ही पैदा करती हैं। ■
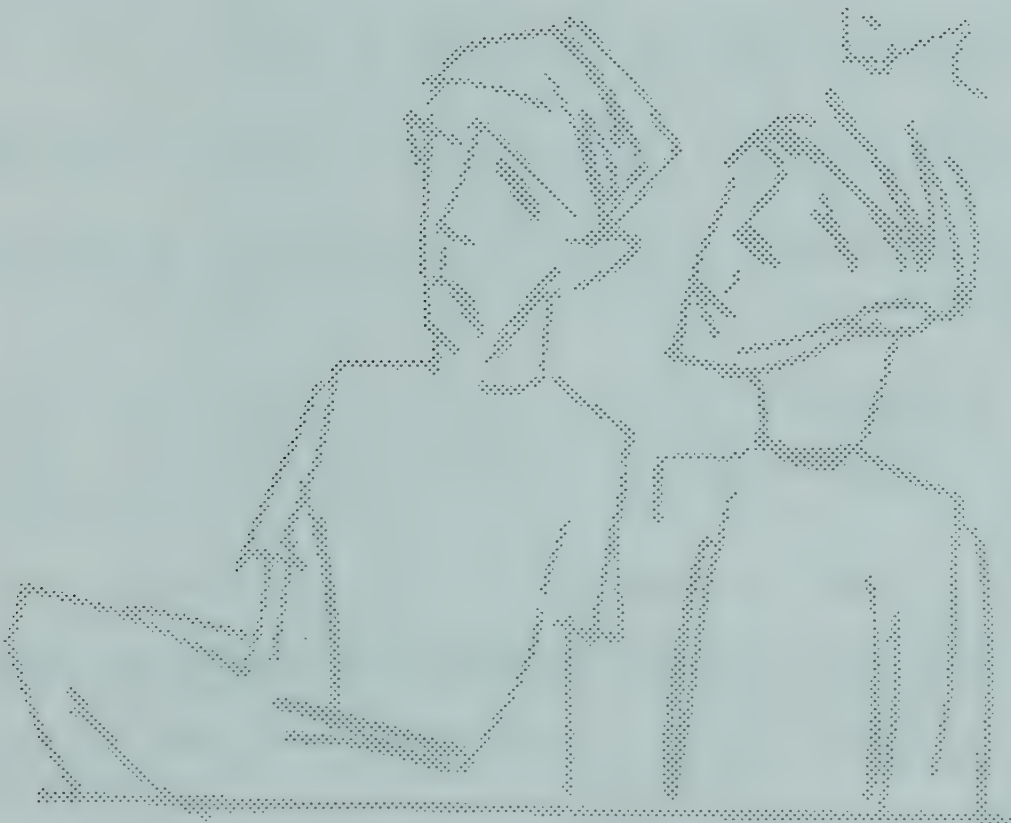
सवाल भाषा का

शिक्षक की नजर में छटवीं कक्षा का सबसे कमजोर बच्चा शिवचरण है। उसके साथ दो तरह की समस्याएं हैं- सुने हुए शब्द का गलत उच्चारण करना और जैसा उच्चारण करता है वैसा ही लिखना। दरअसल उसका उच्चारण, उसकी मातृभाषा कोरकू से प्रभावित होता है। उसके बोलते ही शिक्षक सहित पूरी कक्षा उस पर हंसने लगती है। कक्षा में ऐसे नौ बच्चे हैं जिनका नाम शिक्षक ने नवरत्न रख दिया है। सवाल करने से पहले ही शिक्षक यह शर्त लगा देते हैं, ''नवरत्नों को छोड़कर कोई भी जवाब दे।'' नतीजतन ये बच्चे कक्षा में सबसे पीछे सहमे हुए और चुपचाप बैठे रहते हैं।

एक दिन हिन्दी के शिक्षक ने श्रुतलेख लिखवाया। शिक्षक ने ये वाक्य बोले:

थोड़ी देर के बाद जुम्मन अलगू के पास आए। उसके गले लिपटकर बोले, ''भैया अब मुझे विश्वास हो गया कि पंच की जुबान से खुदा बोलता है।''

स्काउट की स्थापना का उद्‌देश्य है, ऐसे जिम्मेदार नागरिक तैयार करना जो संकट काल में नहीं वरन् शांतिकाल में भी आपसी सहयोग से देश की सेवा कर सकें।

कोरकू बच्चे - बालकृष्ण ने कुछ इस तरह लिखा (देखें बॉक्स)

बच्चे का लिखा हुआ पढ़कर यह पता लगाना मुश्किल है कि मूल वाक्य क्या थे। शायद ऊपर दिए गए श्रुतलेख की भाषा ही इतनी बोझिल है कि बच्चा एक भी शब्द ठीक से नहीं लिख पाया।

यह समस्या छटवीं कक्षा के प्रायः सभी कोरकू बच्चों की है जो पिछले पांच वर्ष से हिन्दी पढ़ रहे हैं। इसका खामियाजा माध्यमिक शाला के शिक्षकों को भुगतना पड़ता है। अवलोकन के दौरान हमने छटवीं में पहली कक्षा जैसा नज़ारा देखा। ब्लैक बोर्ड पर बारहखड़ी लिखी होती है। एक बच्चा उस पर डण्डा रखकर बोलता है, बाकी सभी उसको दोहराते हैं।

माध्यमिक शाला के शिक्षक श्री लालकृष्ण प्यासी सवाल करते हैं, ''आखिर ये बच्चे पांचवी पास कैसे कर लेते हैं। हमको तो उन्हें यहां दाखिले के बाद लगातार दो-तीन महीने तक बारहखड़ी, अ-अनार, आ-आम, शब्द बनाना, उनके उच्चारण करना, सिखाना पड़ता है।''

श्री संजीव यादव छटवीं के बच्चों को गिनती, पहाड़ा, जोड़ घटाव, गुणा व भाग देना सिखाते हैं। वे बच्चों की स्थिति के लिए सरकार को दोषी ठहराते हैं, ''सरकार को नतीजा चाहिए संख्या में। हमारे शिक्षक भाई बच्चों को पास करने के चक्कर में बिना किसी ज्ञान के ही आगे बढ़ा देते हैं। झेलना हमें पड़ता है। लेकिन हमारे इस प्रयास के बावजूद बहुत से बच्चे नहीं सीख पाते हैं। पूरे साल समस्या चलती रहती है। कुछ बच्चे ठीक से नहीं समझ पाने के कारण फेल होते हैं और स्कूल भी छोड़ देते हैं।''

एक शिक्षिका का कहना है, ''कोरकू बच्चे सभी विषयों में कमजोर हैं, इनको हिन्दी ही नहीं आती है तो अंग्रेजी, गणित क्या खाक करेंगे।''

बालकृष्ण की कॉपी का पन्ना

श्री प्यासी फिर इसके कारणों में भी उतरते हैं, ''दरअसल इसका मुख्य कारण पढ़ाई का माध्यम है। बच्चों की मातृभाषा, गोंडी और कोरकू, हिन्दी से बिल्कुल अलग है। गोंड बच्चों को अपेक्षाकृत कम कठिनाई होती है। लेकिन कोरकू भाषा तो बिलकुल ही अलग होती है। इसलिए कोरकू बच्चे स्कूल में पढ़ाई-लिखाई, बोल-चाल, हर चीज में पिछड़ जाते हैं।'' परंतु यह मामला इतना एकतरफा भी नहीं हैं। कक्षा अवलोकन के दौरान हमने यह महसूस किया कि जिन कक्षाओं में भाषा की बुनियाद पड़नी चाहिए वे शिक्षकों की प्राथमिकता में गौण होती हैं।

शिक्षा गारंटी शाला (इ.जी.एस.) के शिक्षक बताते हैं, ''प्रशिक्षण में हमें बच्चे को कोई भी चीज पहले उसकी मातृभाषा (अमानक भाषा) में और फिर किसी गतिविधि के द्वारा या साथ-साथ उसका अर्थ मानक भषाा में समझाने को कहा जाता है परन्तु इसके लिए कोई प्रशिक्षण नहीं होता है।'' लेकिन ठीक-ठीक इसी तरीके का पालन किया ही जाए, ऐसा जरूरी नहीं है। शिक्षकों को यह छूट रहती है कि स्थानीय परिवेश और बच्चों की क्षमता को देखते हुए नवाचारी तरीके से समस्या को सुलझाएं।

शिक्षक और छात्र की भाषाई दूरी के कारण कई व्यवहारिक दिक्कतें आती हैं। निमराना के जन शिक्षक महेन्द्र त्रिपाठी आप-बीती सुनाते हैं - पहली कक्षा का एक बच्चा मुझसे कुछ कह रहा था लेकिन मेरी समझ में नहीं आया। कुछ देर बाद उसने पेंट में ही पेशाब कर दिया। दूसरी घटना स्टाफ रूम की है। मैं शिक्षकों के साथ बैठा था, एक बच्चा छुट्टी मांगने आया। उसने कई बार बताने का प्रयास किया कि उसको छुट्टी क्यों चाहिए, परन्तु हम समझ नहीं पाए। तभी पास में बैठे कोरकू शिक्षक (जो किसी काम से दूसरे गांव से आए थे) ने हमें बताया, ''सर, बच्चे की दादी अम्मा की मृत्यु हो गई है। इसका भाई बुलाने आया है। इसे घर जाने के लिए छुट्टी चाहिए।'' तब हमने उस बच्चे को छुट्टी दी।

शिक्षक मानते हैं कि कोरकू बच्चों को जहां हिन्दी अथवा हिन्दी में किसी भी अवधारणा को सिखाने में बहुत मेहनत करनी पड़ती है, कोरकू भाषा में सिखाने पर बच्चा उसी अवधारणा को जल्दी समझ लेता है। गोंडी, कोरकू बोलनेवाले गुरुजी लोगों से पालक भी घुलमिल जाते हैं। वे अपने बच्चों की कठिनाइयों के बारे में उनसे बात करने में हिचकते नहीं। परंतु हर जगह गोंडी, कोरकू में बोलने वाले शिक्षक उपलब्ध हों ऐसा संभव नजर नहीं आता, क्योंकि ज्यादातर शिक्षक गैर आदिवासी हैं। शिक्षक बच्चों और उनके पालकों की भाषा को नहीं समझ पाते हैं।

आमतौर पर देखा यह जाता है कि स्कूलों में शिक्षकों का जोर हिन्दी अथवा अंग्रेजी बोलने पर होता है, इसमें आशय यह है कि बच्चे मानक भाषा सीख पाएं। जाहिर है शिक्षकों

का यह दबाव कुछ बच्चों को पसंद नहीं आता। जयराम कोरकू कहता है, ''हम आपस में कोरकू में बात करते हैं तो गैर-आदिवासी बच्चे शिक्षक से शिकायत कर देते हैं। शिक्षक पिटाई करते हैं, कहते हैं कि अपनी भाषा बोलनी है तो स्कूल से बाहर जाओ।'' सुकलाल कहता है कि शिक्षक का ऐसा बोलना खराब लगता है।

बच्चों को नई भाषा सिखाई जाए यहां तक तो बात समझ में आती है। लेकिन कई बार यह भी देखा जाता है कि शिक्षक, बच्चों की मातृभाषा को लेकर व्यंग्य करने लगते हैं। बच्चों पर इसका गलत प्रभाव पड़ता है। प्रदीप कोरकू कहता है कि सर, हमारी भाषा का मज़ाक उड़ाते हैं। एक दिन प्रार्थना के समय, सर ने पूछा कि तुम्हारी भाषा में 'लाइन सीधी करो' को कैसे बोलते हैं? एक बच्चे ने जवाब दिया - पोल्ला होकर बोची में देख रे। ये सुनते ही वे जोर-जोर से हँसने लगे। फिर उन्होंने कहा, ''सीधे खड़े हो जाओ नहीं तो बोची में एक दूंगा।'' आदिवासी बच्चों ने गर्दन नीचे कर ली।

बच्चा जिस भाषा का प्रयोग घर में या आम बोलचाल में करता है, स्कूल में उसके लिए वह दुर्लभ हो जाती है। पाठ्यक्रम में अपनी भाषा और परिवेश को न पाकर उनकी कठिनाई और भी बढ़ जाती है। पाठ्यपुस्तकों की भाषा भी आदिवासी बच्चों की भाषा से कोसों दूर है। फलतः पूरी शिक्षण प्रक्रिया बच्चों को बोझिल लगने लगती है। शिक्षक भी इस बात को स्वीकार करते हैं। परन्तु स्कूल के अंदर बच्चों को अपनी भाषा के प्रयोग की आजादी नहीं है। इन स्थितियों का दूरगामी असर आदिवासी बच्चों की सोच और व्यक्तित्व पर पड़ता है। वे सोचने लगते हैं कि हमारी भाषा और हमारी जीवनशैली ही खराब है। इन स्थितियों को किसी मानक भाषा के दबाव में स्थानीय भाषा के खात्मे की शुरुआत कहा जाएगा? ■

''दुनिया का हर बच्चा चाहे उसकी मातृभाषा कोई भी हो, भाषा का इस्तेमाल कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए करता है। एक बड़ा उद्देश्य है दुनिया को समझना, और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भाषा एक बढ़िया औजार का काम करती है। जब तक हम बच्चे की निगाह से देखने और बच्चे की जिन्दगी में भाषा की भूमिका को समझने में असमर्थ रहते हैं, तब तक हम अध्यापक, माता-पिता या देख-रेख करने वालों के रूप में अपनी भूमिका को ठीक से तय नहीं कर सकते।''

कृष्णकुमार, बच्चों की भाषा और अध्यापक

स्कूल बनाम ट्यूशन

नरेश कोरकू अपने गांव से 13 किलोमीटर दूर स्कूल में साइकिल चलाकर पढ़ने जाता है। स्कूल पहुंचने पर अक्सर ऐसा होता है कि कभी शिक्षक नहीं आए हैं, तो कभी बच्चों की संख्या कम है। कभी किसी आयोजन के कारण कक्षा नहीं लगती। पूरे साल उसे परीक्षा का भय खाता रहता है। स्कूल में पढ़ाई नहीं होगी तो वह लिखेगा क्या? परीक्षा कैसे पास करेगा?

आसान सा इलाज है ट्यूशन! वह शहर में होता, अथवा उसके पास इतना पैसा होता कि ट्यूशन कर सके, तो शायद उसको चिन्ता की जरूरत नहीं थी। लेकिन वह विवश है। नरेश की तरह और भी कई छात्र हैं, जिनकी पढ़ाई स्कूल और शिक्षक के भरोसे ही है। उनके पास न तो घर की कोई सहायता है और न ही समुदाय की मदद। वह कहता है, "स्कूल में कभी पूरे पीरियड नहीं लगते, पढ़ाई पूरी नहीं हो पाती, पूरा समय व्यर्थ चला जाता है।"

संयोग से जहां कक्षाएं लगती हैं वहां दूसरा ही मंजर सामने आता है। यहां एक शिक्षक गणित की कक्षा ले रहे हैं - "अबे गधे, अब जरा ध्यान से देख, ये लॉग (Log) के सवाल किसी गाइड में नहीं मिलेंगे। अभी ध्यान नहीं दिया तो परीक्षा में भी लॉग को 'एल ओ जी' पढ़ेगा। लॉग के सवाल करना सीख लेगा तो कैलकुलेटर की भी जरूरत नहीं पड़ेगी। इसलिए साले! कक्षा में थोड़ा ध्यान दे, नहीं तो वहां भी गाइड से नकल मारेगा, बेवकूफ!" जब शासकीय उच्चतर माध्यमिक शाला के गणित के शिक्षक श्री योगेन्द्र भारद्वाज, कक्षा नवीं

के आदिवासी (शिकारी पारदी) छात्र रविन्द्र शिकारी को लक्ष्य करके ये बात कहते हैं तो वह सिटपिटाकर अपना सिर और झुका लेता है। श्री भारद्वाज ने साले, गधे, बेवकूफ, मूर्ख, महाराज जैसे सम्बोधन उसके लिए तय कर रखे हैं।

बोर्ड पर लिखवाते समय श्री भारद्वाज यह जरूर पूछते रहते हैं, "अब क्या आएगा?" लेकिन जवाब कौन दे रहा है और कौन से छात्र लगातार चुप हैं, किसे समझ आ रहा है और कौन इन प्रश्नों को हरिकथा की तरह सुन रहा है, उन्हें इससे ज्यादा मतलब नहीं रहता। छात्रों को भी पढ़ाई की प्रक्रिया में शामिल करने, उनकी कठिनाइयों को समझने का कोई प्रयास नहीं होता। गणित वैसे भी कठिन विषय माना जाता है। छात्रों पर एक तरह से इस विषय का आतंक रहता है, इसलिए जरूरत इस बात की होती है कि छात्रों के साथ सहानुभूति से पेश आया जाए। एक छात्र के मुताबिक, "कोई भी छात्र दोबारा सवाल नहीं पूछता, सर डांट देते हैं, उनका रटा हुआ जवाब है -जब मैं बता रहा था तब सो रहे थे क्या?"

ऐसे छात्रों की सूची काफी लम्बी है जिनको प्रताड़ना सहनी पड़ती है, परंतु सभी छात्रों के प्रति वे रूखा व्यवहार करते हों ऐसा नहीं है। कक्षा के दूसरे छात्रों से नरमी से पेश आते हैं क्योंकि वे उनसे ट्यूशन पढ़ते हैं। प्रकाश पासवान कहता है, "हम लोग सर से कक्षा में सवाल इसलिए नहीं करते क्योंकि वे हमें घर पर तो बता ही देंगे।" यानी कक्षा न लगनी ही समस्या नहीं है, कक्षा लगती भी है तो बच्चों को एकतरफा समझदार श्रोता बने रहना जरूरी है। प्रश्न पूछने या पढ़ाए हुए पाठ को दोहराने की संभावना कहीं से भी नहीं है, भले ही किसी छात्र को समझ में आए या न आए।

हर छात्र के सीखने का तरीका अलग-अलग होता है। ऐसा कत्तई जरूरी नहीं कि सभी छात्र एक ही बार में किसी अवधारणा को समझ जाएं। और विषय अगर समझ में नहीं आता तो यकीनन कमजोर छात्रों को कक्षा से अरुचि हो जाती है। राकेश धंधेरे पिछले वर्ष नवीं कक्षा में फेल हो चुका है, इस बार भी उसकी माँ को उससे कोई उम्मीद नहीं। वजह? उसे कक्षा की पढ़ाई समझ में ही नहीं आती।

एक छात्र आलोक कुमार कहता है, "स्कूल में विज्ञान और गणित ठीक से नहीं बताई जाती, अगर हमें आगे ये विषय पढ़ने हैं तो ट्यूशन के अलावा कोई चारा नहीं है।" दरअसल ट्यूशन इस समय की जरूरत बनकर उभरा है। और इस जरूरत का आधार स्कूल में पढ़ाई की उपेक्षा है। बच्चे यहां तक कहते हैं कि उन्हें शिक्षक, परीक्षा में फेल कर देने या कम अंक देने की धमकी देते हैं, उन्हें विवश होकर ट्यूशन लेना पड़ता है।

प्रायः शिक्षकों का जोर विषय को समझाने की बजाए पाठ्यक्रम को समय सीमा में पूरा करवाने का होता है। पाठ्यक्रम पूरा करवाने का तात्पर्य प्रश्नों के उत्तर लिखवाने मात्र से है। पढ़ाई की यह प्रक्रिया वास्तव में छात्रों के लिये काफी बोझिल होती है, पढ़ाई में उन्हें जरा भी मज़ा नहीं आता। इसके अपवाद भी हैं। किशोर मालवीय बताता है, ''हम कभी संस्कृत का पीरियड नहीं छोड़ते, क्योंकि वहां पढ़ने के बाद सारी बात दिमाग में आ जाती हैं।'' दूसरे बच्चों की राय भी उनके बारे में इसी तरह की है, ''वे संदर्भ के साथ अपना पाठ पढ़ाते हैं। हर चीज का उदाहरण होता है उनके पास। एक-एक बच्चे के पास जाते हैं। कुर्सी पर बैठकर या एक जगह खड़े होकर वह गाइड से प्रश्नोत्तर नहीं लिखाते। सच बात तो यह है कि उनकी पढ़ाई से ही पाठ याद हो जाता है। उसको अलग से रटने की जरूरत नहीं होती।''

अपवाद कहीं मुख्य धारा नहीं होता। हमारे अवलोकन के मुताबिक बड़ागांव जैसे छोटे कस्बे में भी उच्चतर शाला के लगभग 80 फीसदी बच्चे किसी न किसी प्रकार के ट्यूशन से सम्बद्ध है। यह धारणा बन गई है कि ट्यूशन पढ़ने वाले बच्चे ही अच्छे अंक लाते हैं और आगे बढ़ते हैं। सबसे अधिक परेशानी गरीब पालकों को झेलनी पड़ती है। शिक्षक उन पर लगातार दबाव बनाते हैं कि उनका बच्चा कमजोर है, फेल हो जाएगा। मजबूरन पालकों को अपने बच्चों के लिए ट्यूशन की व्यवस्था करनी पड़ती है।

ट्यूशन के इस बाजार में शिक्षित बेरोजगारों के अलावा विद्यालयी शिक्षक भी हैं, जिनके लिए ट्यूशन अतिरिक्त आमदनी का जरिया बन चुका है। एक शिक्षक की दलील है, ''डाक्टर निजी प्रैक्टिस कर सकता है तो शिक्षक के ट्यूशन पढ़ाने में क्या हर्ज है?'' दूसरे शिक्षक की राय है, ''अगर छात्र कमजोर हैं और अतिरिक्त समय लगाकर अपना कोर्स पूरा करवाना चाहता है, तो इसमें शिक्षक किस तरह से दोषी है?''

रामनारायण भंवरे शिक्षकों को कठघरे में खड़ा करते हैं, ''पहले शिक्षक स्कूल में ही बच्चों को इस तरह पढ़ाता था कि उसे अतिरिक्त सहायता की जरूरत ही नहीं पड़ती थी। मैं कभी ट्यूशन पढ़ने नहीं गया। मेरा बच्चा ट्यूशन पढ़कर भी उतने अंक नहीं ला पाया। वह गणित का ट्यूशन पढ़ने जाता था लेकिन सप्लीमेन्ट्री आ गई।'' श्री भंवरे ने ट्यूशन पढ़ाने वाले शिक्षक से सवाल भी किया, उनको जवाब मिला, ''हमने तो सभी सवाल करवा दिए थे अब आपका बच्चा नहीं कर पाया तो मेरा क्या दोष।'' यानी बच्चा पहले स्कूल में पढ़ा फिर ट्यूशन जाकर पढ़ा। फिर भी उसे सवाल समझ में नहीं आते। तो यह पढ़ाई किसी गम्भीर बीमारी की ओर इशारा कर रही है। बच्चे भयभीत हैं और अभिभावक परेशान।

नरेश कोरकू जैसे विद्यार्थियों के लिए तो स्कूल और ट्यूशन की कक्षाओं के बीच फैले व्यापार में फिलहाल कहीं कोई जगह नहीं दिखती। ■

गोंड कोरकू खाये बोरकू चरावे डोरकू

आदिवासी क्षेत्र में एक कहावत प्रचलित है, "गोंड कोरकू खाये बोरकू चरावे डोरकू।" इसका अर्थ यह हुआ कि गोंड कोरकू जाति के लोग जंगल में बेर खाते हैं और ढोर चराते हैं। असिंचित और पथरीली जमीन वाले इस इलाके में कुछ लोग खेती और पशुपालन करते हैं तो कुछ मजदूरी पर निर्भर हैं। प्रत्येक घर में कम से कम एक या दो मवेशी होते ही हैं। कुछ लोगों के पास ज्यादा मवेशी भी होते हैं। अधिकतर लोगों को भरण-पोषण के लिए साल में दो या तीन बार गांव से बाहर जाना पड़ता है। घर की यह आर्थिक स्थिति और दिनचर्या बच्चों के जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित करती है।

प्रायः हर घर का बड़ा बच्चा ढोर चराने का काम करता है और बड़ी बच्ची घर का काम काज संभालती है। फलतः या तो वे स्कूल जा ही नहीं पाते या फिर जल्दी ही इनका स्कूल जाना बंद कर दिया जाता है। नौ वर्ष के शिव प्रसाद कोरकू ने पहली कक्षा में ही पढ़ाई छोड़ दिया क्योंकि घर पर बैल चराने वाला कोई दूसरा नहीं था। गैर स्कूली बालक संजीव के पिता कहते हैं, "हमने उसे स्कूल जाने से मना कर दिया। बाहर मजदूरी करने जाने पर बैल संभालने वाला भी तो कोई होना चाहिए। पारख्या (मवेशी चराने वाला मजदूर) ठीक से बैल नहीं चराता, कभी देर से आता है, कभी आता ही नहीं है। हर महीने पैसे दो और जानवर भी भूखे मरें। इसलिए अपने बेटे से ही कहा कि तुम्हीं चराओ बैल।"
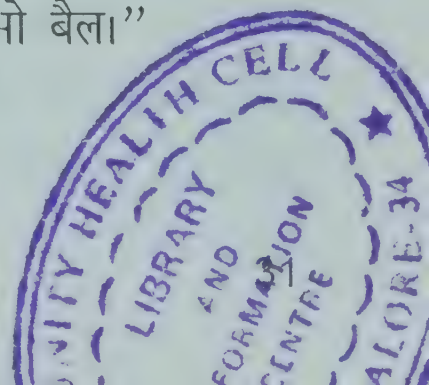
11 वर्षीय गैर स्कूली लड़की निधि कोरकू के माँ-पिताजी सुबह से ही खेत पर चले जाते हैं। शाम को उनके आने तक अपने छोटे भाई बहनों को संभालती है और घर का सारा काम करती है। उसका कहना है "मैं पहली में पढ़ती थी, पर परीक्षा नहीं दे पाई। माँ बाप ने नहीं जाने दिया। उनका कहना था कि स्कूल जाऊंगी तो घर का काम कौन करेगा। मेरी सहेलियां स्कूल जाती हैं। मैं भी पढ़ना चाहती हूँ लेकिन घर के लोग नही जाने देते तो मैं क्या करूं?"

हालांकि लोग चाहते हैं कि उनके बच्चे स्कूल जाएं, लेकिन उनकी परिस्थितियां साथ नहीं देती हैं। सीताराम कोरकू अपनी दिनचर्या बताते हैं, "सुबह जल्दी उठता हूं। फिर बैल लेकर खेत पर चला जाता हूँ। बाद में खाना लेकर बच्चे भी वहीं आ जाते हैं। पूरे दिन हल बक्खर में लगा रहता हूँ, दिन ढलने पर खेत से वापस आता हूं। घर आकर ढोरों को चारा देना होता है। उसके बाद खाना और शाम आठ बजे तक सो जाना। अगले दिन फिर से यही काम। समय ही नहीं बचता कि स्कूल और बच्चे की सुध लूं। यह पता करूं कि उसकी पढ़ाई कैसी चल रही है।" रुआंसे होकर कहते हैं "लोगों के खेत जोते, पशु चराये, खुद बाहर जाकर दिन-रात मजदूरी की, ताकि मेरा बच्चा पढ़ जाए। पढ़ेगा तो मैं भी समाज में सिर उठाकर चल पाऊंगा। लेकिन बच्चे ने पढ़ना छोड़ दिया। पता नहीं क्या हुआ!"

इसी गांव के विश्राम खेतीहर मजदूर है। उनके पास अपनी कुछ असिंचित जमीन तो है लेकिन इससे खाने भर उपज नहीं होती। इसलिए उनका काफी समय दो जून की रोटी के जुगाड़ में जाता है। उनका कहना है, "पहले पेट भरने की व्यवस्था करूं या बच्चों को स्कूल भेजूं। मैं ठहरा अनपढ़ आदमी, बक्खर छाप, लड़के की क्या मदद कर सकता हूँ। किसी तरह बच्चे को स्कूल भेजो भी तो गुरुजी नहीं सोचते कि गरीब का लड़का है ध्यान से पढ़ा दें।"

'चैत कमाना' इन ग्रामीणों के जीवन का स्थाई हिस्सा है। गेहूँ और सोयाबीन की कटाई के समय डेढ़ महीने के लिए लोग दूसरे गांवों में जाते हैं। गांवों में एक कहावत है कि जो बच्चा चैत गया समझो चित गया। यानि फिर उसका पढ़ाई में मन नहीं लगता है। जनकराम कोरकू कहते हैं, "चैत करने नहीं जाएंगे, तो खायेंगे क्या? भूखे रहकर तो पढ़ाई नहीं हो सकती है। बच्चों को साथ जाना ही पड़ता है। इच्छा होती है कि बच्चों को पढ़ने दें, परंतु उन्हें घर पर किसके भरोसे छोड़ें? यदि गांव में कोई रहता भी है तो वह घर या खेती का काम देखता है। पढ़ने वाला जो बच्चा एक बार हमारे साथ चला जाता है, वह दोबारा स्कूल नहीं जाता। डेढ़ महीने में बहुत फर्क आ जाता है। बच्चे स्कूल के कोर्स में पिछड़ जाते हैं। अक्षर भूल जाते हैं। फिर उन्हें स्कूल जाने में शर्म आती है। स्कूल से बाहर रहने के बाद वह डरता है कि गुरुजी मारेंगे।" बेहतर जीवन जीने की इस जददोहजद में कई बच्चे पढ़ पाते हैं और कइयों का स्कूल छूट जाता है।

हमने अवलोकन के दौरान यह पाया कि सोयाबीन व अन्य फसलों की बुआई, निदाई और कटाई के समय बच्चे स्कूल नहीं आते। उसके बाद जब गर्मी के दो महीनों में बच्चे फुर्सत में होते हैं, तब स्कूल की छुट्टी होती है। यही नहीं गोंड, कोरकुओं के प्रमुख त्यौहारों पोला, जिरोती, महादशहरा, मेघनाथ मेला आदि में स्कूल की छुट्टी नहीं रहती। छुट्टी उन त्यौहारों में रहती है जिसे वे कम मनाते हैं या मनाते ही नहीं। यह साफ दिखा कि स्थानीय लोगों की दिनचर्या, परम्परा और स्कूल के समय में कोई तालमेल नहीं है।

सोहनलाल कोरकू की विवशता एक नया आयाम जोड़ती है। वे किसान हैं। गांव से दो कि.मी. दूर अपने खेत में ही रहते हैं। उनके तीन बच्चों की पढ़ाई बीच में छूट गई। वह कहते हैं, "स्कूल जाने के लिए तीन जोड़ी कपड़ा बनवाना पड़ता है। साबुन, सर्फ, कॉपी, किताब और हर रोज पेन-पेंसिल अलग से चाहिए। मैं तीन बच्चों के लिए इतनी सारी चीज़ों का इंतजाम नहीं कर सकता, इसलिए स्कूल छुड़वा लिया।"

टेबिल 2 : पढ़ाई पर होने वाला प्रत्यक्ष खर्च (सालाना प्रति छात्र)

स्कूल का नाम	कुल खर्च (रु. में)	मद	राशि (रु. में)
प्राथमिक शाला, हरदा	400-450	ड्रेस	150-200
		किताब-कॉपी	150
		फीस	20
		साबुन-तेल	80
माध्यमिक शाला, हरदा	720-770	ड्रेस	300
		किताब-कॉपी	200-250
		फीस	150
		साबुन-तेल	80
शिक्षा गारंटी शाला, हरदा	102	किताब-कॉपी	100
		फीस	2
हाईस्कूल, हरदा	4600-5000	ड्रेस	600-800
		ट्यूशन	500
		किताब-कॉपी	400-500
		फीस	100-150
		डोनेशन	100
		कमरा किराया	2400
		कम्प्यूटर	500

स्रोत - ये आँकड़े पालकों से साक्षात्कार के आधार पर तैयार किये गये हैं।

वह दुखी होकर कहते हैं, ''कपड़े साफ नहीं हो तो गुरुजी स्कूल के अन्दर नहीं आने देते। बच्चा किताब लेकर स्कूल नहीं जाए तो गुरुजी चमड़ी उधेड़ने पर ही उतर आते हैं।'' बच्चों को पढ़ना, गिनना आ रहा है या नहीं, यह दूसरी प्राथमिकता है। कापी, ड्रेस और किताब का मामला टंच रहना चाहिए। स्कूल के प्रधानाध्यापक की बात स्कूल के कड़े रवैये का समर्थन करती है। उनका कहना है, ''हम पठन-पाठन सामग्री और ड्रेस में कोई छूट नहीं देते। हमने स्कूल में बच्चों के बाल कटवाएं हैं और बच्चों को जबरदस्ती पकड़कर हैण्डपम्प पर नहलाया है। ताकि दूसरे बच्चे इससे सीख लें।''

शंकर कोरकू ने पिटाई से तंग आकर बच्चे की पढ़ाई छुड़ा दी। उनकी प्रतिक्रिया समुदाय के बारे में गुरुजी की समझ पर सवाल उठाती है, ''गुरुजी लोग भी कोई कम नहीं है। हम हैं चिलट (बेफिक्र) लोग। हम स्वयं नहीं नहाते, कपड़े नहीं धोते तो बच्चा कैसे नहाकर और धुले कपड़े पहनकर जायेगा। बच्चा किसी एक भी चीज़ से चुक जाता है तो शिक्षक उसकी चमड़ी उधेड़ लेते हैं, या फिर घर भगा देते हैं। मैंने स्कूल छुड़वा लिया, कहा बैल चराओ भैया! करते भी क्या? सोचा था कि पढ़ जायेगा, तो जीवन सुधर जाएगा। अब सारी जिन्दगी बैल की तरह कमायेगा, और हमारी तरह पेट भी नहीं भर पायेगा।''

एक तरफ बच्चों की घरेलू और सामाजिक स्थिति है और दूसरी तरफ स्कूल है। घर में साधनों का अभाव और स्कूल का अनुशासन मेल नहीं खाते। क्या डण्डे की चोट पर मनवाया जाने वाला अनुशासन शिक्षा के सिद्धांतों में शामिल है? स्कूल के अनुशासन और नियम-कानून बनाने में न बच्चों की कोई भागीदारी है न स्थानीय समुदाय की। कहीं से भी ऐसा कोई प्रयास होता नहीं दिख रहा कि बच्चे व पालक स्कूल को अपना मानने लगें। हाल ही में जन शिक्षा विधेयक के जरिए पालकों पर बच्चों को विद्यालय भेजने की अनिवार्यता थोप दी गई है। सवाल यह है कि इतने कठिन अनुशासन और अनिवार्यताओं के बीच क्या ये आदिवासी बच्चे पढ़ पाएंगे, जिनकी परम्पराएं, रहन-सहन, रीति-रिवाज बिल्कुल भिन्न हैं? क्या हम स्कूलों से बच्चों व उनके परिवेश के प्रति थोड़ी संवेदनशीलता की अपेक्षा रख सकते हैं? जो किताबी न होकर व्यवहारिक हो! ■

हम तो सिर्फ पुरजे हैं

नवीन शासकीय हायर सेकेण्डरी स्कूल के प्राचार्य श्री एस. एल. अग्निहोत्री कुछ इस तरह टिप्पणी करते हैं, ''स्कूल और शिक्षा संक्रमण काल से गुजर रहे हैं। शासकीय स्कूलों के लिए प्राइवेट स्कूल बहुत बड़ी चुनौती बन गए हैं, और शासन की मंशा शिक्षा व्यवस्था में सुधार की नहीं दिखती। शासकीय स्कूलों में नियम कायदों की इतनी सीमाएं हैं कि नवाचार के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं है। शिक्षा नीति और प्रशासन में प्रिंसीपल की राय को कोई जगह नहीं मिलती। हमारे पास स्कूल के विकास और अन्य आवश्यक कार्यों हेतु धन भी नहीं होता। पहले शिक्षक छात्रों का अभिभावक होता था पर अब सिर्फ सरकार की नौकरी कर रहा है।''

इन वाक्यों से यह अर्थ निकलता है कि शिक्षक, पूरी शिक्षा व्यवस्था में अपनी भूमिका और महत्व के कम होते जाने से कसमसा रहा है। शासकीय स्कूलों में वही छात्र नामांकन कराते हैं जो या तो आर्थिक रूप से कमजोर हैं या जिन्हें किसी वजह से अच्छे प्राइवेट स्कूल में प्रवेश नहीं मिला। लगातार तेज होती प्रतिस्पर्धा के इस दौर में सरकारी स्कूल पालकों की अपेक्षा पर खरे नहीं उतर पा रहे हैं। श्री जैन कहते हैं ''क्लास रूम टीचिंग का कंसेप्ट ही खत्म हो रहा है। हम पालकों की अपेक्षा पूरी नहीं कर पा रहे हैं, शासन को हम पर विश्वास नहीं है और छात्र, पांच-छह घंटे कक्षाओं में रुकना नहीं चाहते।'' यानी पालक को स्कूल पर, छात्र को शिक्षक पर, शिक्षक को शासन पर और शासन को इस पूरी व्यवस्था पर विश्वास नहीं है। शासकीय प्राथमिक विद्यालय पारगंज के प्रधानाध्यापक श्री जगजीवन का

मानना है, ''सरकार खुद चाहती है कि सरकारी स्कूल बंद हो जाये। वर्तमान में एक स्थायी शिक्षक को दस-ग्यारह हजार रुपये तनख्वाह देनी पड़ती है जबकि यह कार्य, शिक्षाकर्मी या संविदा शिक्षक को दो हजार रुपये देकर ही हो सकता है। हम जैसे स्थायी शिक्षक तो अब इतिहास की वस्तु होने वाले हैं।''

चुनौतियां चौतरफा हैं, ऐसे में शिक्षक क्या करें? वह अपने को नये दौर की भूमिका के लिए तैयार करें कि सरकारी योजना और कार्यक्रमों का बोझ संभाले। बकौल श्री बैरवा, ''शिक्षा विभाग को तो पता नहीं सरकार ने क्या समझ रखा है? कुल 24 विभागों का नियंत्रण है स्कूल पर। हर रोज किसी न किसी विभाग से नई जानकारी की मांग आ जाती है। दिक्कत तो तब आती है जब एक ही जानकारी चार-चार बार भेजना पड़ती है। पुराने रिकार्ड पलटने की बजाए हर विभाग एक सर्कुलर भेज देता है, फलां जानकारी अर्जेन्ट भेजो। अब हम बच्चों को ठीक से पढ़ायें या सर्वे करते रहें। हम किससे कहें? हमारी सुनता ही कौन हैं?''

उच्चतर माध्यमिक शाला का प्राचार्य हो या प्राथमिक अथवा मिडिल स्कूल का प्रधानाध्यापक, प्रतिदिन उनको एक से डेढ़ घंटे तक या तो निर्धारित प्रपत्र में जानकारियां भरनी पड़ती हैं या उन पर दस्तखत करने पड़ते हैं। लक्ष्मी नगर शासकीय माध्यमिक स्कूल की प्रधानाध्यापक श्रीमती यमुना पाटीदार कहती हैं, ''मेरी बहुत इच्छा होती है कि कक्षा में जाकर पढ़ाऊं, पर क्या करूं? प्रपत्रों पर दस्तखत करने से ही फुर्सत नहीं मिलती। ऊपर से स्कूल की तमाम छोटी-बड़ी बात की जवाबदारी, बड़ी बुरी स्थिति है हमारी।'' जब संस्था का प्रमुख ही ऐसी बात कहता है तब सामान्य शिक्षक की पीड़ा क्या होगी, समझा जा सकता है।

शासकीय माध्यमिक विद्यालय महादेव पुरा के शिक्षक श्री एस. के. वाजपेयी के अनुसार, ''हमारे हाथ में कुछ भी नहीं है। हर हफ्ते कितना पढ़ाना है, परीक्षा कब होगी, कैसे होगी, मूल्यांकन कैसे होगा, सब कुछ पहले तय है।'' सरकारी कायदे कानून की इतनी भरमार है कि इसने शिक्षक के लिए नवाचार की कोई गुंजाइश ही नहीं छोड़ी।

शासकीय माध्यमिक विद्यालय महादेव पुरा के शिक्षक श्री वीरेन्द्र साहू को ये सूचना मिली कि उनको साक्षरता हेतु अक्षर मित्र (ग्राम साक्षरता प्रभारी) बनाया गया है। बगैर यह जाने कि उनकी भूमिका क्या होगी, वह बोल पड़ते हैं, ''यह मिशन (राजीव गांधी शिक्षा मिशन) जान खा गया है।''

शासन द्वारा समय-समय पर चलाए जा रहे विभिन्न कार्यक्रम मसलन नवीन शिक्षण पद्धति या शिक्षक प्रशिक्षण, शिक्षकों में किसी तरह का उत्साह जगाने में असफल साबित हो रहे हैं। महादेवपुरा के जन शिक्षक श्री राजेन्द्र खत्री जन शिक्षा केन्द्र के बारे में कहते हैं, ''सब ढकोसले हैं, कुछ होना जाना नहीं, आपको पता है मैं पिछले 23 दिनों से कक्षा में जाकर झांका भी नहीं। इधर-उधर डाक बांटता फिरूं कि पढ़ाऊं, महीने में 25 दिन का कार्यक्रम है, जन शिक्षक का और फिर कक्षा में पढ़ाने को विषय भी दे रखा है। उसका कोर्स भी पूरा करवाना है, क्या करें?'' शिक्षकों की बातों से तो यही लगता है कि शासकीय स्कूलों में यह चलन है कि गैर शैक्षणिक काम पहले, पढ़ाई बाद में। अगर गैर शैक्षणिक कामों से मुक्ति मिले तो उन्हें राहत हो।

उनकी नई पीड़ा समाज में लगातार कम होता जा रहा उनका सम्मान है। पहले शिक्षक का दर्जा पिता जैसा था, परंतु अब उनका आरोप है कि शासन ने शिक्षक को बेचारा बना दिया है। श्री एस. एल. अग्निहोत्री कहते हैं, ''कोई हमसे ये नहीं पूछता कि आपकी समस्याएं क्या हैं? स्कूल में आप क्या सुधार चाहते हैं? स्कूल चलाने में आपको क्या दिक्कतें आ रही हैं?''

उज्जैन में गत वर्ष नगर निगम ने स्कूलों का अचानक निरीक्षण किया और समय पर स्कूल न आने वाले या रिकार्ड पूरा न करने वाले शिक्षकों पर कार्रवाई की। जिन स्कूलों का परीक्षा परिणाम दस प्रतिशत से कम था, उनके प्रमुख को जिला कलेक्टर ने निलंबित कर दिया। नगर निगम के निरीक्षण और कलेक्टर के निलंबन आदेश के शिकार शासकीय बालक माध्यमिक शाला लक्ष्मी नगर के प्रधानाध्यापक श्री के. एन. आडवाणी कहते हैं "मैं दो बार सस्पेंड हुआ, दोनों बार मेरी गलती नहीं थीं, पर मेरी कौन सुनेगा? नगर निगम के निरीक्षण के समय मेरी ड्यूटी कालिदास अकादमी में थी, तो मैं स्कूल कैसे आता, पर मुझे यहां न पाकर जबरन सस्पेंड कर दिया। तीन महीने सस्पेंड रहा। जब बहाल हुआ तो परीक्षा सामने थी, हमारे यहां विज्ञान का शिक्षक ही नहीं है और पढ़ने वही आता है, जिसे कहीं एडमिशन नहीं मिलता। सब (छात्र) गधे हैं, इन्हें कितना ही पढ़ाओ, अब ये घर जाकर न पढ़ें तो मैं क्या करूं? रिजल्ट बिगड़ेगा ही, मुझे फिर सस्पेंड कर दिया, बिना बात के।"

शिक्षकों के पास ऐसा कोई मंच नहीं है, जहां वो अपना पक्ष रख सकें। शिक्षक पर जवाबदारी उनकी मर्जी जाने बिना थोप दी जाती हैं, ऐसे में शिक्षक के मन में यह धारणा पुख्ता होती जाए कि उनकी हैसियत कुछ नहीं, वह महज आदेश का पालन करने वाले हैं तो कोई अचरज की बात नहीं। वे अपनी समस्याओं से ही इतने लदे हुए लगते हैं कि बच्चों के बारे में सोचना, उनकी सामाजिक, मानसिक योग्यता को समझकर काम की उम्मीद करना व्यवहारिक नहीं है। ■

मेरा गैरेज मेरा स्कूल

सोहनराम मोहनपुरा के अंतिम छोर पर एक कच्चे मकान में रहते हैं। घर के बगल में ही नाली है जिसकी वजह से दीवारों पर सीलन है। घर के भीतर बेतरतीब, बदहाल चीजें उनकी आर्थिक कथा कहती हैं। हमारे पहुंचने पर उनका बेटा जितेन्द्र हमारे पास ही बैठ जाता है। उससे हमारी मुलाकात हो चुकी थी। सामने की खाट पर सोहनराम बैठते हैं। अनौपचारिक बातचीत में वे अपनी स्थिति बयान करते हैं, ''जब मिल चालू थी, हमारी हालत ऐसी नहीं थी, तब मैं मकान बनवाने की सोच रहा था। लेकिन मिल बंद हो जाने के कारण बहुत समय तक काम नहीं मिला और सारी पूंजी खत्म हो गई।''

उन्होंने बताया कि वे और उनकी बीवी मजदूरी करके घर खर्च चलाते हैं। जितेन्द्र का भविष्य अच्छा बनाने की खातिर उन्होंने उसे प्राइवेट स्कूल में भर्ती करवाया। परंतु जितेन्द्र का पढ़ने में मन नहीं लगा और उसने पढ़ाई छोड़ दी। उसके न पढ़ पाने की वजह बताते हैं, ''स्कूल में इसका दिमाग ही नहीं लगता था। यह बार-बार घर भाग आता था। हम तो इसे मार-मार के थक गए।'' यह सुनकर जितेन्द्र ने अपने पिताजी को घूरकर देखा और उठकर बाहर चला गया। हमलोग उसके पिता से बात करते रहे।

हमारे बाहर आते ही जितेन्द्र अपनी सफाई देने लगा, ''आजकल पढ़ाई का क्या मतलब? नौकरी तो मिलती नहीं। पढ़े-लिखे लड़के भी बेरोजगार घूम रहे हैं, इसलिए मैं ज्यादा नहीं पढ़ा। पढ़ाई में मेरा मन नहीं लगता था।''

हमारे पूछने पर कि क्यों नहीं मन लगा तुम्हारा पढ़ाई में? वह अपने स्कूली अनुभवों में उतरने से कतराता रहा। कहने लगा, ''मुझे तो मैकेनिक बनना है। मेरा मन हमेशा से ऐसे ही कामों में लगता है। मैं अभी गैरेज पर काम सीख रहा हूँ और काम सीखकर अपना खुद का गैरेज डाल लूंगा। अभी से कमाने लगूंगा तो गैरेज भी जल्दी खोल लूंगा।'' उसका जवाब वर्तमान स्कूली शिक्षा व्यवस्था की सीमा को स्पष्ट करता है। न पढ़ पाने का उसको जरा भी अफसोस नहीं है। पढ़-लिखकर बेरोजगारों की भीड़ में उसे नहीं खड़ा होना है। उसके मन में कहीं यह बात भी है कि पढ़ाई से सिर्फ सरकारी नौकरी ही मिलती है। वह कहता है, ''क्या फायदा ऐसी पढ़ाई से जो सरकारी नौकरी के अलावा कोई रोजगार न दे सके?'' लेकिन वह तुरंत जोड़ता कि अनपढ़ रहना भी ठीक नहीं है। वह कहता है, ''पढ़ने लिखने का मैं इतना ही फायदा समझता हूँ कि आप कुछ भी पढ़ सकें, तथा उधारी लिखना और हिसाब जोड़ सकें। इतना पढ़ना-लिखना तो मुझे आता ही है।''

जितेन्द्र के मन में अपनी पढ़ाई को लेकर किसी तरह की हीनभावना कतई नहीं है। उसके पिता उसके न पढ़ पाने से थोड़े असंतुष्ट हैं, लेकिन उन्हें इस बात का संतोष भी है कि जितेन्द्र मैकेनिक का काम सीख रहा है। उसे अपने में और किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति में कोई अंतर ही महसूस नहीं होता। वह कहता है, ''मैं जब किसी पढ़े-लिखे आदमी से बात करता हूँ तो मुझे अपने में कोई कमी नहीं दिखती। हिसाब जोड़ने लायक तो मुझे भी आता है। हो सकता है उनकी नौकरी लग जाए पर मैं भी भूखा नहीं मरूंगा, मेरे पास अपना काम होगा।'' ■

लक्ष्य पर निगाह

आमतौर पर जहां दलित आदिवासी बच्चे स्कूल के परिवेश, पाठ्यक्रम, व्यवस्था में ढल नहीं पाते वहीं छोटी ही सही, सफल बच्चों की संख्या भी है। ऐसे उदाहरण, 'भंगी के बच्चे क्या पढ़ेंगे', 'इनके परिवार में पढ़ाई का माहौल ही नहीं है', 'माँ-बाप बच्चे पर ध्यान नहीं देते', 'काम करवाते हैं', जैसी रूढ़ धारणाओं को चुनौती देते हैं।

नवीन शासकीय उच्च माध्यमिक स्कूल में कक्षा नवीं का छात्र आनन्द, ऐसा ही एक उदाहरण है। आनन्द अपनी कक्षा का सबसे होनहार छात्र है, इस बात को न केवल उसके साथी बल्कि स्कूल के शिक्षक भी स्वीकार करते हैं। एक शिक्षक उसकी आदतों की तरफ ध्यान दिलाते हैं, ''जब कक्षा में उसके साथी छात्र मटरगश्ती कर रहे होते हैं, तब वह या तो पढ़ता रहता है या किसी साथी के साथ किसी विषय पर चर्चा कर रहा होता है।'' आनन्द के पिता राजेन्द्र प्रेमी को उससे बड़ी आशाएं तो हैं ही शिक्षक भी कहते हैं वह उनके स्कूल का नाम रोशन करेगा।

राजेन्द्र प्रेमी के पिता हीरा टेक्सटाइल मिल में काम करते थे, वह भी पढ़े-लिखे थे, इस तरह आनन्द अपने परिवार की तीसरी शिक्षित पीढ़ी है। मोची का परम्परागत काम उनके परिवार ने तभी छोड़ दिया था, जब उसके दादाजी हीरा मिल में काम करने लगे। आनन्द के पिता, राज्य परिवहन निगम में नौकरी करते थे। किसी कारण से उन्हें सेवा से निलंबित कर दिया गया। अब वे सब्जी मंडी में कटलरी की दुकान लगाते हैं। वह कहते हैं

''प्राइवेट स्कूल की फीस नहीं भर सकने के कारण, आनन्द को सरकारी स्कूल में भर्ती करना पड़ा। नवीन स्कूल मेरी दुकान के पास ही है, यहां से मैं उसकी पढ़ाई पर आसानी से नजर रख सकता हूँ।''
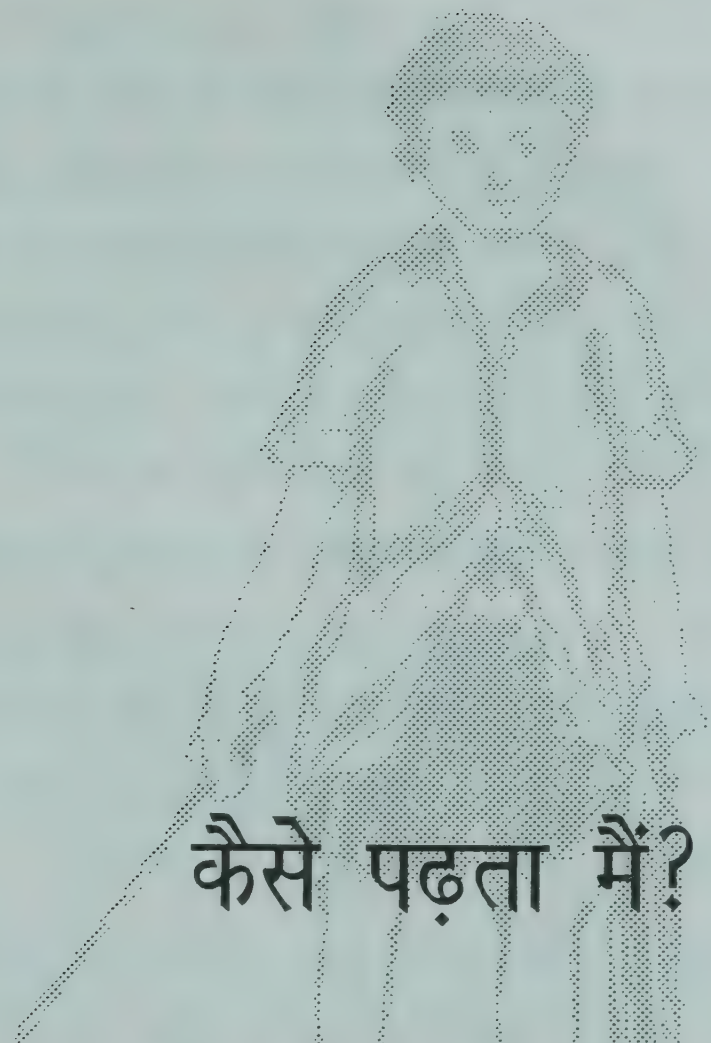
आनन्द भी पिता की इस लाचारी को स्वीकार करता है, ''मैं तो इस स्कूल में पढ़ना नहीं चाहता था, आठवीं कक्षा तक प्राइवेट स्कूल में ही पढ़ा। पापा की नौकरी छूट जाने से घर की स्थिति (आर्थिक) बिगड़ गई। मजबूरन मुझे इस स्कूल में भर्ती होना पड़ा, मेरा मन यहां नहीं लगता।''

परंतु इस स्कूल के दोस्त और शिक्षकों का स्नेह उसकी पीड़ा को कम कर देते हैं। वर्ग शिक्षक श्रीमती भारती खरे कहती हैं, ''आनन्द बहुत मेहनती लड़का है, वह कक्षा का सबसे होनहार छात्र है।'' आनन्द के दोस्त सभी जाति और आय वर्ग के हैं। आनन्द मोची जाति का है, पर उसके खास दोस्तों में चेतन शर्मा (ब्राह्मण), अशोक बड़गोत्या (बैरवा), विजय मरमट (बैरवा) शामिल हैं। आनन्द की पढ़ाई और स्कूल में उसके प्रदर्शन से शिक्षक खुश हैं।

हमारे यह पूछने पर कि कक्षा में अन्य छात्रों के साथ व्यवहार करते समय कभी जाति भेद आड़े नहीं आता? उसका कहना है, ''कभी नहीं, मैं सभी छात्रों से बात करता हूँ। यहां तो कोई जानता भी नहीं कि कौन छात्र किस जाति का है।'' परंतु आनन्द अक्सर अपने इन दोस्तों घर नहीं आता-जाता। ''मेरे पापा मना करते हैं। वह कहते हैं घर पर रहकर पढ़ो या दुकान पर बैठो, इधर-उधर जाने की जरूरत नहीं।''

आनन्द के लिए उसके पिता ने पहले ही लक्ष्य तय कर रखा है। वे कहते हैं, ''आनन्द को डॉक्टर बनना है। मैंने उससे कह रखा है कि सब कुछ छोड़कर सारा ध्यान पढ़ाई पर लगाओ। घर से स्कूल जाओ और स्कूल छूटने के बाद सीधे घर आओ। खेलना मत, क्योंकि आगे तो पढ़ाई ही काम आएगी।'' आनन्द की मेधा को देखते हुए वह आशान्वित है कि वह प्री-मेडिकल टेस्ट (पीएमटी) जरूर उत्तीर्ण कर लेगा। वे इस तथ्य से इनकार नहीं करते कि आरक्षण की इसमें महत्वपूर्ण भूमिका होगी। ''आनन्द वैसे तो पीएमटी में पास हो ही जाएगा लेकिन अगर उसको पीएमटी में थोड़े बहुत कम नम्बर भी आए तो आरक्षण के कारण उसका चयन हो सकता है।'' आनन्द भी अपने पिता की इच्छा को पूरी करने को दृढ़ प्रतिज्ञ दिखता है।

आनन्द के संदर्भ में शिक्षकों और छात्रों का व्यवहार अपवाद की तरह लगता है। संभव है मिल संस्कृति या शहरी माहौल का प्रभाव हो, या फिर यह माना जाए कि मेधा रूढ़ियों को आसानी से तोड़ पाती है। क्योंकि ग्रामीण स्कूलों में ऐसे समीकरणों के संबंध बहुत ही दुखद तसवीर पेश करते हैं। ■

कैसे पढ़ता मैं?

कोई उसे रामा कहता है तो कोई पटेल, ग्राहक बारीक कहते हैं और मालिक भाड़ू कहकर बुलाता है पर उसका नाम है रमेश। सरनेम उसे नहीं मालूम। क्षण भर भी फुर्सत में नहीं दिखता वह। कभी सड़क के उस पार के नल से सिर पर बर्तन रखकर पानी ढोता नजर आता है तो कभी ग्राहकों को चाय देते, गिलास धोते या बर्तन मांजते हुए।

बहुत व्यवस्थित है उसकी दिनचर्या। सुबह साढ़े छह बजे उठना, तैयार होना, चाय पीना और साढ़े सात बजे तक दुकान पर आ जाना। दोपहर एक बजे तक ग्राहकों की सेवा के बाद खाना खाने दौंड गांव जाना। घण्टे भर में वापिस आना। फिर रात नौ-दस बजे तक काम में जुटे रहना, दस बजे तक घर पहुंचना। खाने के बाद, पड़ोसी के यहां टीवी देखने जाना या सो जाना।

यह कहानी है कुम्हार जाति के दस वर्षीय रमेश की। जब उसके हम उम्र बच्चे अच्छे कपड़े पहने कंधे पर बस्ता टांगे स्कूल जा रहे होते हैं या अपनी माताओं के साथ स्कूल बस का इंतजार कर रहे होते हैं, तब वह आँख मलते-मलते दौंड बस स्टैण्ड स्थित दुकान की ओर चल पड़ता है। तेज-तेज कदम उठाते हुए। अगर ग्राहकी शुरू हो गई तो भैया (मालिक) चिल्लाएंगे।

जिस दुकान में वह काम करता है वह वस्तुतः शासकीय भूमि पर अतिक्रमण कर बनाई गई एक झुग्गीनुमा संरचना है। लोहे की एक गुमटी के चारों ओर प्लास्टिक की चादर तानकर इसे तैयार किया गया है। गुमटी में खाने-पीने की सामग्री तैयार होती है तथा बाहर की बेंचों पर ग्राहक बैठते हैं और वहीं पर चाय का स्टोव है। गुमटी के बगल में पानी की एक टंकी है और तीन-चार मटके रखे हैं। रामा दिन भर पानी भरता रहता है या ग्राहकों को चाय-नाश्ता देता रहता है। नंगे पांव दिनभर पानी भरने और दुकान पर फैली रेतीली बजरी पर चलते रहने के कारण रामा के पांव में बिवाइयां फट गई हैं।

पढ़ाई की बात शुरू करने पर वह कहता है, ''मैं भी स्कूल जाता! पर क्या करूं, मेरे बाप ने मेरे को होटल पर लगा दिया। अब यहां दिन भर काम करूं कि स्कूल जाऊं। स्कूल जाता तो पढ़-लिख सकता। हिसाब जोड़ लेता। पढ़ तो अब भी लेता हूँ पर मन-मन में, लिख नहीं सकता। सौ रुपये तक जोड़ भी लेता हूँ जैसे 10-10 रुपये के दस नोट 100 रुपये हो जाते हैं। लेकिन पांच-छह हजार रुपये नहीं गिन सकता।''

उमर का अंदाज लगाने का जिम्मा हमारे ऊपर छोड़कर वह अपनी कहानी सुनाता है, ''पहले हम बावी में रहते थे, सोनकच्छ के पास। मेरे पिता तीन भाई हैं। दो काका हैं मोहन और गुड़ला। एक बार मेरे काका मोहन ने एक आदमी को तेरह गुप्ती मार दी, पुलिस ने नब्बे हजार रुपये मांगे उसे छोड़ने के! हम क्या करते, अपना घर बेचकर पैसे दिए। फिर मेरे पिता, तपा चले गए, प्रकाशपुरा के पास। वहां गारा घूंदने (ईंट बनाना) का काम किया। फिर नागदा गए और अब यहां आ गए, दौंड। विकास पटेल ने बुला लिया मेरे पिता को गारा गूंधने के लिए। छह हजार रुपये साल देते थे। मेरे पिता ने सब्जी बेचने का काम भी किया। मैं भी जाता था उनके साथ। बावी छोड़ते ही स्कूल छूट गया था। उसके बाद तो चार-पांच गांव में रहे हम, मैं कहां-कहां पढ़ता। एक गांव में रहता तो पढ़ भी लेता। फिर सब्जी में घाटा हो गया तो रद्दी खरीदने लगे।''

''एक बात बताऊं'' इधर-उधर देखकर वह और पास खिसक आता है।

''आप किसी को बताना मत। मेरे पिता के पास एक कांटा (तराजू) है। उसमें एक लाई रहती है, उसको ऐसे (कलाई मोड़ता है) मोड़ लो तो वह उतना ही वजन बताती है जितना बाट रखो। बराबर नहीं बताती, वो लाई मारते हैं, मुझे भी उस कांटे (तराजू) से तौलना आता है।''

थोड़ा रुककर वह अपने जीवन के दूसरे राज खोलता है, ''मैं पहले स्कूल नहीं जाता था न, तो मेरे पिता ने मुझे होटल पर लगा दिया। मुझे यहां तीस रुपये मिलते हैं। शुरू-शुरू में पन्द्रह रुपये मिलते थे फिर बीस, फिर पच्चीस और अब तीस रुपये। थकान नहीं होती भैया। मैं घर पर भी क्या करूं। मेरी यहां कोई पहचान भी नहीं है, किसके साथ खेलने

जाऊं। ये मेरी चौथी होटल है। ये फूल्या, बन्स्या, डमरू, संजू, परकास, सब मेरे बाद के हैं। जब मैं आया था तब यहां इतनी होटलें थोड़ी थीं।"

फूलसिंह, बंशी, डमरू, संजू, प्रकाश आदि बच्चे भी रमेश की तरह मजबूरी के मारे हैं और आसपास की होटलों पर काम करते हैं।

"नरेन्द्र भैया बहुत अच्छे हैं, कभी-कभी गलती हो जाए तभी डांटते हैं, काम तो करना ही पड़ता है, मालिक फ्री में तो मजदूरी देगा नहीं। फूल्या (उसका साथी) बदमाश है, मेरे को पटेल वो ही कहता है। न जाने क्या समझता है अपने आप को। उसको न जाने कितने पैसे मिलते होंगे? मेरे को तो तीस रुपये रोज़ बता रहा था।"

हमने कहा, "हमें तो पैंतीस बता रहा था।"

"अच्छा!" वह अंदाज लगाता है, "फूल्या खर्चे के पांच रुपये भी बचा लेता होगा। मालिक अपने को सही तनख्वाह नहीं बताएगा उसकी।"

तनख्वाह जोड़ने- बताने में उसे मज़ा आ रहा था। "बीस रुपये के हिसाब से महीने के छह रुपये, पच्चीस रुपये से ..... अंदाज लगाता है... सात सौ पचास रुपये। 15 रुपये से पांच सौ में 50 कम, और 30 से।" हंस देता है "नहीं आता यार भैया। स्कूल जाता तो भले ही हजार रुपये का हिसाब जोड़ देता, मुझे तो लिखना भी नहीं आता। क्या करें यार।" निस्पृह भाव आता है चेहरे पर।

फिर वह अपने घर की आमदनी का हिसाब जोड़ता है। "हमारी आमदनी कितनी हो जाती है महीने में! 900 रुपये तो मेरे आते हैं। मेरे पिता भी 50 या 100 रुपये रोज कमा लाते होंगे। कुल मिलाकर महीने में 3000 रुपये हो जाते होंगे।"

हम उसे टोकते हैं, "चार हजार रुपये होने चाहिए न? 900 तुम्हारे, 3000 तुम्हारे पिता के।"

"चार नहीं होते होंगे, वे कभी-कभी कम भी कमा के लाते हैं।" वह स्पष्ट कर देता है। "घर पर जितने भी पैसे दो सब बराबर हो जाते हैं। मेरी तनख्वाह मेरे पिता ले जाते हैं भैया से, मुझे क्या करना है पैसे का।" हल्की निराशा दिखती है उसके चेहरे पर।

तभी उसे स्कूल की बात याद आती है, "जब मैं स्कूल जाता था ना, तब भी मुझे लिखना नहीं आता था। मैं दूसरे से लिखवा लेता था। मेरे घर वाले पूछते, मास्साब पूछते तो वही बता देता। एक बार अंगूठा लगाना था तो मैंने दूसरे से लगवा लिया और फिर उस पर अपना अंगूठा लगा दिया। मास्साब ने टिकाई मेरे को डंडी। खूब सूंता (पीटा)" इस घटना को बताकर हंसने लगा। "स्कूल में अच्छा तो लगता था पर लिखना नहीं आता था मेरे को। बाद में तो हम तपा चले गए। पिताजी यहां-वहां घूमते रहे तो मैं कैसे पढ़ता।"

दौंड के अनौपचारिक स्कूल में क्यों नहीं जाते?

''होटल से फुर्सत मिले तो जाऊं, इच्छा तो होती है स्कूल जाने की, पर काम पर लग गया हूँ, अब कैसे जाऊं।'' बेबसी जाहिर करता है।

अपने स्कूली दिनों के साथ-साथ उसे घर की कठिनाइयां भी याद आने लगीं, ''हमारे घर में कभी-कभी तो आटा भी नहीं रहता था, इसलिए काम करना पड़ा। हम घर में आठ मनक (सदस्य) हैं। छह भाई-बहनों में मैं सबसे बड़ा हूँ। मैंने तो स्कूल छोड़ दिया। मेरी बहिनें भी स्कूल नहीं जाती। उन्हें स्कूल लेने छोड़ने कौन जाए। अकेली कैसे जाएं इतनी दूर।''

रमेश बहुत मासूम है। बात-बात पर मुस्कुराता है। जब सोचकर बोलता है तो लगता है जैसे स्मृति को खंगाल रहा हो, होटल की नौकरी ने जहां उसे बेबाक बात करना सिखाया है वहीं व्यावहारिकता की घुट्टी भी पिलाई है। अनपढ़ और पढ़े लिखे के अंतर को वह इस तरह आंकता है, ''पढ़ा लिखा आदमी लिख-पढ़ सकता है हजारों रुपये का हिसाब-किताब जोड़ लेता है। करोड़पति भी बन सकता है। कम पढ़ा लिखा तो क्या करेगा। ऐसे ही रहेगा और क्या।'' वह मानता है कि पढ़ना जरूरी है पर उसका सवाल है कि भूखे पेट कोई पढ़े तो कैसे? वह समझता है कि बच्चों को जहां तक हो सके पढ़ना चाहिए। ■
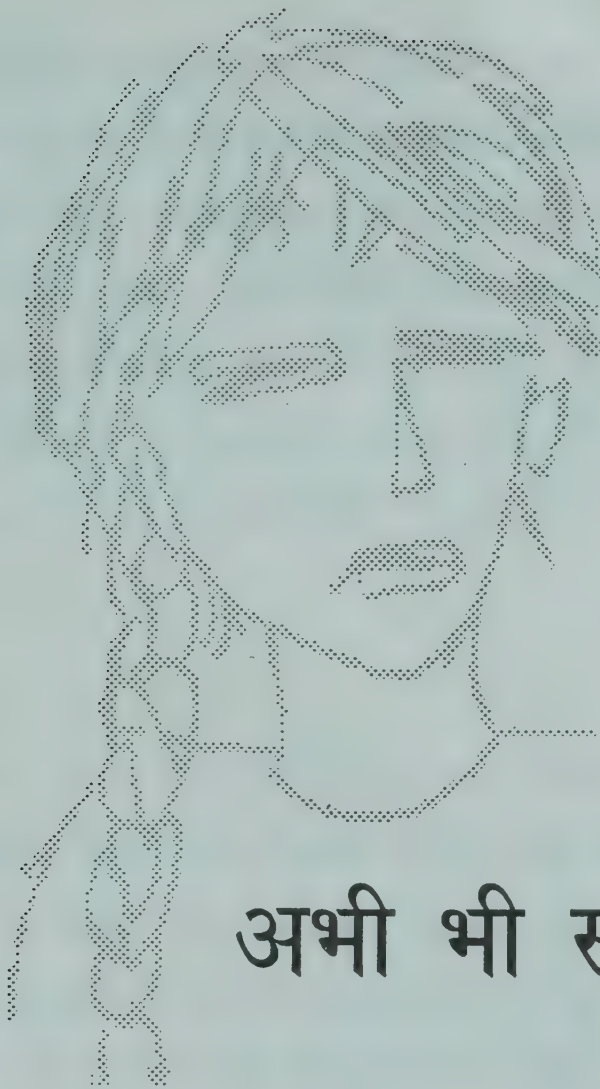
अभी भी स्कूल नहीं

"बेटियों को साथ ही काम पर ले जाती हूँ। घर पर अकेली लड़की के साथ कुछ हो जाए तो हमारी इज्जत की बारह बज जाएंगे। मेरी लड़की अकेली गोपाल मंदिर नहीं जा सकती। अगर इन्हें घूमने जाना हो तो साथ जाना पड़ता है। मैंने उससे कह दिया कि घूमने के लिए जिन्दगी पड़ी है। शादी के बाद घूमना अपने साजन के साथ।" ये शब्द हैं 13 वर्षीय मीरा कुम्भकार की माँ यशोदा बाई के। उनकी भाषा उनके समाज में लड़कियों की स्थिति के बारे में बहुत कुछ कह जाती है।

यशोदा बाई दौंड, उज्जैन में रहती हैं। वे कहती हैं, "हम गरीब हैं। मज़दूरी कर अपना पेट भर रहे हैं। मैंने अपने चारों बच्चों को पढ़ाने की कोशिश की। दोनों लड़के तो अभी भी पढ़ने जा रहे हैं। लड़कियां बड़ी हो गई हैं। हमारे मोहल्ले में सरकारी स्कूल भी नहीं है। प्राइवेट स्कूल की फीस ज्यादा है। हम जवान लड़कियों को घर से दूर अकेले पढ़ने नहीं भेज सकते। यह मोहल्ला बहुत खराब है। इस कारण से लड़कियों को अपने साथ ईंट-भट्टे पर काम करने ले जाती हूँ।"

मीरा को भी अपने मोहल्ले से ढेरों शिकायतें हैं। अपने न पढ़ पाने का दोष वह अपने मोहल्ले पर मढ़ती है। उसका कहना है, "हमारे मोहल्ले में लड़के हमें छेड़ते हैं। उन्हें पढ़ना-लिखना है ही नहीं, अगर हम पढ़ने जाएं तो रास्ते में हमें छेड़ते हैं। इनके डर से हम नए कपड़े भी नहीं पहन सकते, कहने लगते हैं देखो ये लड़की रोज-रोज नए कपड़े क्यों पहनती है, क्या चक्कर है?"

दौंड, उज्जैन की एक ऐसी बस्ती है जहां अधिकांश आबादी दिहाड़ी मजदूरों की है। रानी के पिताजी मजदूरी करते हैं और माँ अगरबत्ती बनाती है। उसकी माँ कहती है, ''हमारे पास जो कुछ है वो इज्जत ही है। यहां आस-पास लड़कियों का सरकारी स्कूल होता तो इसे पढ़ाते भी पर स्कूल तो बहुत दूर है। इसकी कोई सहेली होती साथ में स्कूल जाने के लिए तो भेज भी देते पर अकेली लड़की सुबह-सुबह इतनी दूर कैसे जा सकती है। इसलिए मैंने पांचवी कक्षा पास करने के बाद इससे कहा कि अब आगे पढ़ाई रहने दे, घर पर ही काम कर। अगर हमारी हालत (आर्थिक) अच्छी होती तो इसे प्राइवेट स्कूल में पढ़ाते, पर यहां तो दो टाइम के खाने की भी दिक्कत है।''

....

11-12 वर्ष की आदिवासी लड़कियां साड़ी बांधने लगती हैं। इसी आयु में लड़कियों में शारीरिक परिवर्तन होते हैं। उनका मासिक धर्म शुरू हो जाता है। इसको लोग वयस्क होने का सूचक मानते हैं। लगभग 13-14 वर्ष की होते-होते लड़कियों की शादी कर देते हैं। सरला कोरकू के पिता जयराम ने कहा, ''अभी इसकी शादी करना है, ससुराल में कोई पढ़ाई नहीं देखता है। वहां पर तो काम देखा जाता है। लड़की को काम करना आना चाहिए। फिर हमारे समाज में लड़की के बराबर पढ़ा-लिखा लड़का भी नहीं मिलता है। शादी कैसे करेंगे? अनपढ़ से शादी कर देंगे तो वह पढ़ाई की कीमत क्या जानेगा?''

हमने सर्वे में 12 से 14 वर्ष के आयु समूह की जिन 15 लड़कियों से बात की, उनमें से पांच लड़कियों की शादी हो चुकी है। दो-तीन के पालक ने कहा, बस इस वर्ष या अगले वर्ष अच्छा रिश्ता मिलने पर शादी कर देंगे। माधव कोरकू का कहना है, ''हमारे समाज में लड़कियों का पांचवीं तक आते ही स्कूल छुड़ा लेते हैं, क्योंकि लड़की जवान हो जाती है। एक-दो वर्ष घर का खेत का काम करवाया और फिर शादी कर देते हैं।''

....

उज्जैन के नजदीक गांव की रहने वाली सुमन सिनम पांचवीं कक्षा के बाद स्कूल नहीं जा पाई। उसके पिता ने उसका स्कूल छुड़वा दिया, कारण? वह बताती है, ''मेरी तो पढ़ने की इच्छा थी पर पापा ने माध्यमिक शाला में नाम ही नहीं लिखवाया। उनसे कारण पूछने की हिम्मत नहीं है।''

उसके पिता भोलाराम सिनम का कहना है, ''इसे स्कूल भेजने का क्या मतलब था? माध्यमिक शाला में एक भी महिला शिक्षिका नहीं है। सब पुरुष ही हैं। वहां बच्ची को पढ़ने भेजो तो ये अपने परेशानी किससे कहती? स्कूल में अगर कोई मैडम होती तो बच्ची उनसे बात कर सकती थी, सर को कैसे बताएगी?''

जाहिर है स्कूल में महिला शिक्षक का न होना भी, लड़कियों के नहीं पढ़ पाने का एक महत्वपूर्ण कारण है। भोलाराम कहते हैं, ''अगर यहां एक-दो मैडम होतीं या लड़कियों का अलग स्कूल होता तो हमारे गांव की सभी लड़कियां पढ़ जातीं। कोई अनपढ़ नहीं रहती।''

आदिवासी समाज हो या फिर दलित, लड़कियों को लेकर सबमें घोर असुरक्षा का भाव है। यह असुरक्षा लड़कियों की पढ़ाई जारी रखने की एक बड़ी बाधा है। आर्थिक हालात और दूसरे कारण तो हैं ही। ■

एक अभिभावक ऐसा भी

आदिवासी और दलित अभिभावकों में बच्चों की पढ़ाई के प्रति बढ़ती रुचि दिखती है। परन्तु पढ़ाई की पूरी प्रक्रिया में उनकी भागीदारी क्या हो, वे यह तय नहीं कर पाते। स्कूल के शिक्षक आलोचना करते हैं, ''पालक बच्चों को स्कूल भेजकर फुर्सत पा लेते हैं, स्कूल में बच्चे को कैसी कठिनाई है, वह पढ़ रहा है या नहीं, उसे किस दिक्कत का सामना करना पड़ रहा है, क्या उसे किसी तरह की मदद की जरूरत है - इन मुद्र्दों पर कोई जागरुकता नहीं है।''

गजेन्द्र के पिता वंशीराम इसके अपवाद हैं। वह अपने बच्चे से नियमित ही पढ़ाई के बारे में बातचीत करते हैं। वह उससे स्कूल की बात तो करते ही हैं, कभी-कभार स्कूल भी पहुंच जाते हैं कि बच्चा वहां क्या कर रहा है। उन्होंने शिक्षकों से भी अच्छा संवाद बना रखा है।

शिक्षा के विविध पहलुओं पर उनके विचार गौर करने लायक हैं। इस इलाके में यह आम कहावत है कि ''मांस-मांस तुम्हारा, हाड़-चाम हमारा।'' यानी अभिभावक बच्चे को स्कूल भेजकर, गुरुजी को आजादी दे देता है कि उसको सिखाने-पढ़ाने में यदि जरूरत हो तो उसकी रक्त-मज्जा की ले लें। इससे गुरु पर पारम्परिक आस्था प्रतिध्वनित होती है। इस धारणा को वंशीराम संशोधित करते हैं। वे कहते हैं कि पढ़ाई के लिए पिटाई जरूरी नहीं। उनकी राय में, ''पहले बच्चे की कठिनाइयों को समझने की कोशिश करना चाहिए, फिर

उसको समझाना चाहिए, एक तरीके से नहीं समझता तो दूसरा तरीका अपनाना चाहिए, अगर बच्चा जानबूझकर नासमझी दिखा रहा हो तब पीटो, उसके पहले नहीं।"

उनका सुझाव है कि "बच्चा अगर लिखने में गलती करता है तो मास्टर को उसके पास जाकर, उसका हाथ पकड़कर लिखवाना चाहिए। एक बार में नहीं आए तो दो-तीन बार करवाना चाहिए।" वह अपने बेटे के शब्दों में बताते हैं, "मैडम घुटना टेक कराती हैं, पुट्ठे पर मारती हैं।" वे कहते हैं कि बच्चे पिटाई से सीखते नहीं हैं, भागने लगते हैं। उनका एक बच्चा पिटाई के डर से ही स्कूल जाना बंद कर चुका है।

वंशीराम कक्षा की बैठक व्यवस्था, पढ़ाई के तरीकों आदि पर भी टिप्पणी करते हैं। वे बताते हैं बड़े (कद में ऊंचे) बच्चे आगे बैठ जाते हैं, छोटी ऊंचाई वाले बच्चों को पीछे से न तो दिखाई देता है और न ही सुनाई देता है। आमतौर से कमजोर बच्चे पीछे बैठते हैं। उन पर शिक्षक का ध्यान नहीं जाता। इन समस्याओं पर वह सुझाव देते हैं कि कक्षा में बच्चों को उनकी ऊंचाई के हिसाब से बिठाना चाहिए। शिक्षक को हर बच्चे के पास जाकर उसकी दिक्कत समझनी चाहिए। वे बच्चों के आगे कुर्सी लगाकर बैठ जानेवाले शिक्षकों के खिलाफ हैं। वंशीराम खीझकर कहते हैं, "इस तरह तो बोर्ड पर जो लिखा है बच्चे देख ही नहीं पाते।"

स्कूल की इन सभी सूक्ष्म चीज़ों का अवलोकन उन्होंने नियमित रूप से शाला में जाकर ही किया होगा। वे शिक्षकों की स्कूल में नियमितता पर, पूरी घंटी न पढ़ाने पर भी सवाल करते हैं। उनका यह मानना है कि शिक्षक अगर ठीक तरीके से स्कूल में पूरा समय लगाये तो बच्चों को सीखने में दिक्कत नहीं होगी। वे इस बात से काफी आश्वस्त दिखते हैं कि उनके विद्यालय आने-जाने से शिक्षकों में सजगता आई है। शिक्षक बच्चों पर ध्यान देने लगे हैं।

ग्रामीण समाज में वंशीराम जैसी सकारात्मक जागरुकता एक अपवाद है। उनका परिवार गांव की प्रायः सभी सामाजिक व राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय दिखता है। स्पष्ट रूप से उनमें सामाजिक उत्तरदायित्व का बोध नजर आता है। स्कूल में सिर्फ अपने बच्चे की रुचि से नहीं जाते बल्कि वह सभी बच्चों पर ध्यान देने की बात करते हैं, "मैंने मैडम से कहा, बाई साहब ध्यान मेरे धर्मेन्द्र पर ही नहीं सभी बच्चों पर देना, सभी बच्चे आपके हैं।"

स्कूल, बच्चों और शिक्षा में इस तरह की अभिरुचि की जरूरत सम्भवतः सभी अभिभावकों को है। ऐसा होने से शायद दलित, आदिवासी इलाकों के स्कूली परिवेश, शिक्षा में कुछ गुणात्मक बदलाव आए। ■
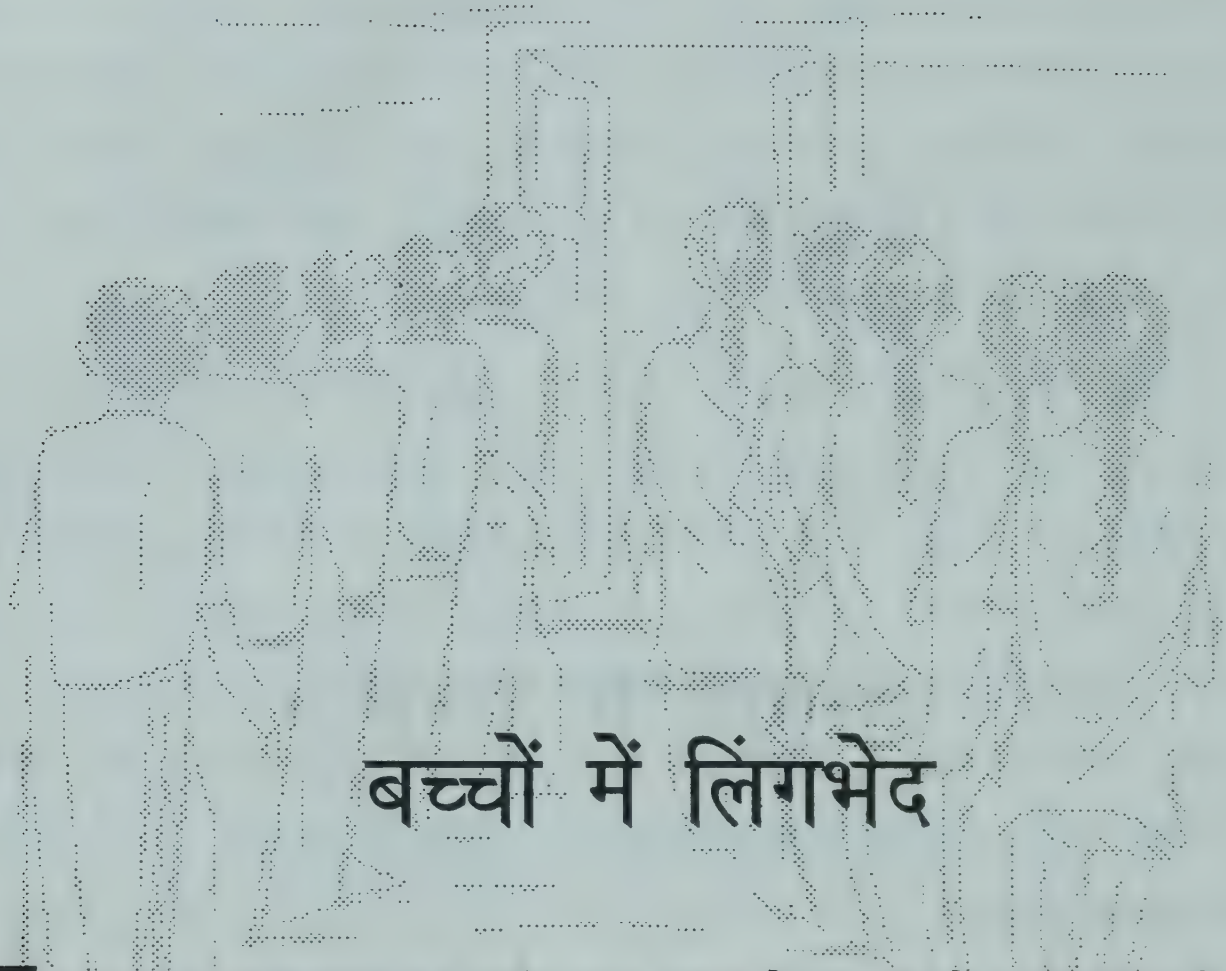
बच्चों में लिंगभेद

सूरजपुरा में रहने वाली 14 वर्षीय उमा कहती है, ''कहीं सौ रुपये मिलते हैं तो कहीं सवा सौ। आजकल शहरों में काम के लिए बाइयां ज़्यादा हो गई हैं। बड़ी मुश्किल से छह घरों में काम मिला है।'' उमा पासी जाति की है, दूसरे घरों में झाड़ू-पोंछा का काम करती है।

उमा अपनी माँ के साथ ही काम करने जाती है। उसे काम के लिए अलग से पैसा नहीं मिलता। उमा को कोठियों के काम के साथ-साथ अपने घर का भी सारा काम करना पड़ता है। एक दुर्घटना में उसके पिता घायल हो गये थे। वे अब कोई काम नहीं करते। उसकी माँ, पिताजी की देखभाल भी करती है और घर का खर्च भी चलाती हैं। उमा यह कहते नहीं चूकती, ''पिताजी की जगह माँ का एक्सीडेंट हो जाता तो पिताजी शायद अब तक दूसरी शादी कर लेते।''

उमा को अपने न पढ़ पाने का अफसोस है। वह कहती है ''मैं पढ़ना चाहती थी पर मेरे पिताजी मुझे पढ़ने नहीं जाने देते। मैं पहली कक्षा में पांच दिन स्कूल गई थी। स्कूल घर से बहुत दूर है, पिताजी मुझे घर से अकेले नहीं निकलने देते। अगर बाहर जाना हो तो मम्मी के साथ ही जाना पड़ता है। इस कारण मैं कभी-कभी मोहल्ले में जमुना चौहान मैडम के यहां पढ़ने जाती हूँ। मैडम शाम को एक घंटा पढ़ाती हैं, उनके पास जो बच्चे दिन में काम करते हैं वह रात में पढ़ने आते हैं।''

उमा अपने पिताजी से बहुत नाराज है। कहती है, ''मेरे पिताजी को मेरा चौहान मैडम के यहां पर पढ़ने जाना अच्छा नहीं लगता। वो मुझे शक की नजर से देखते हैं। अगर मैं घर पर भी पढ़ती हूँ, तो पिताजी समझते हैं कि मैं किसी को लव लेटर लिख रही हूँ। मेरे हाथ में कागज का टुकड़ा देखते हैं तो भी उनको शक होने लगता है! घर पर काम करते हुए मुझसे गलती हो जाए तो पिताजी गाली देते हैं, कभी-कभी तो मारते भी हैं। लेकिन बड़े भाई को कुछ नहीं कहते। वह चाहे जैसा काम करे या बिगाड़ दे।''

लड़कियों के लिए सरकारी स्कूल !

परिवार में लिंग भेद का एक स्वरूप लड़की और लड़के को अलग-अलग स्कूल में भेजने के उनके पालकों के निर्णय में नजर आता है। अक्सर यह देखा गया है कि पालक अपने लड़कों को निजी स्कूल में भेजते हैं, वहीं लड़कियों को शासकीय स्कूल में दाखिल करवाते हैं। उज्जैन की मोहनपुरा बस्ती के बैरवा जाति के तीस परिवारों के अध्ययन से इस बात की पुष्टि होती है।

पढ़ने वाले बच्चों की कुल संख्या		सरकारी स्कूल		निजी स्कूल	
बालक	बालिका	बालक	बालिका	बालक	बालिका
45	51	23	35	22	16
प्रतिशत		**51**	**69**	**49**	**31**

नोटः इनमें से अभी स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या मात्र 15 है। बाकी बच्चे स्कूल छोड़ चुके हैं।

संकोचवश उमा, पिताजी के इस भेदभाव का विरोध नहीं करती, परंतु पिता के नकारात्मक व्यवहार से उसका आत्मविश्वास कुंद हो गया है। बहुत संकोच से वह कहती है ''मुझे पिताजी की इन बातों पर बहुत गुस्सा आता है कि मुझे ही इतने अनुशासन में क्यों रखते हैं? मुझे आजादी क्यों नहीं देते? मैं पढ़ना चाहती हूँ, मेरा भाई तो पढ़ना भी नहीं चाहता। मेरे पिताजी मुझसे कहते हैं कि तुझे पढ़ाकर मुझे क्या फायदा? तू दूसरे के घर जाएगी, उसका ही भला करेगी।''

उमा जिन घरों में काम करने जाती है, अपनी तुलना उन लड़कियों से करते हुए कहती है, ‘‘मैं उन लड़कियों को अच्छा मानती हूँ। वहां लड़कियों को आजादी है, लड़कियां कॉलेज में पढ़ने जाती हैं, शाम तक घर लौटती हैं। परन्तु उनके घर वाले उन पर कोई बंदिश नहीं लगाते। वह जानते हैं कि बंदिश लगाने में लड़कियां ज्यादा बिगड़ेंगीं। वो सब समझते हैं क्योंकि वो पढ़े-लिखे लोग हैं।’’

अपने मोहल्ले की दूसरी लड़कियों के बारे में उसका कहना है, ‘‘मेरे जैसी और भी लड़कियां हैं जिन्हें उनके पिताजी किसी न किसी बात पर टोकते रहते हैं। मेरे पिताजी जैसे लोग सोचते हैं कि हमने लड़कियों पर पूरी बंदिश कर रखी है। इस कारण हमारी लड़कियां सही रास्ते पर चल रही हैं। परन्तु मैं कहती हूँ कि बंदिश से लड़कियां ज्यादा ढीठ हो जाती हैं।’’ ■
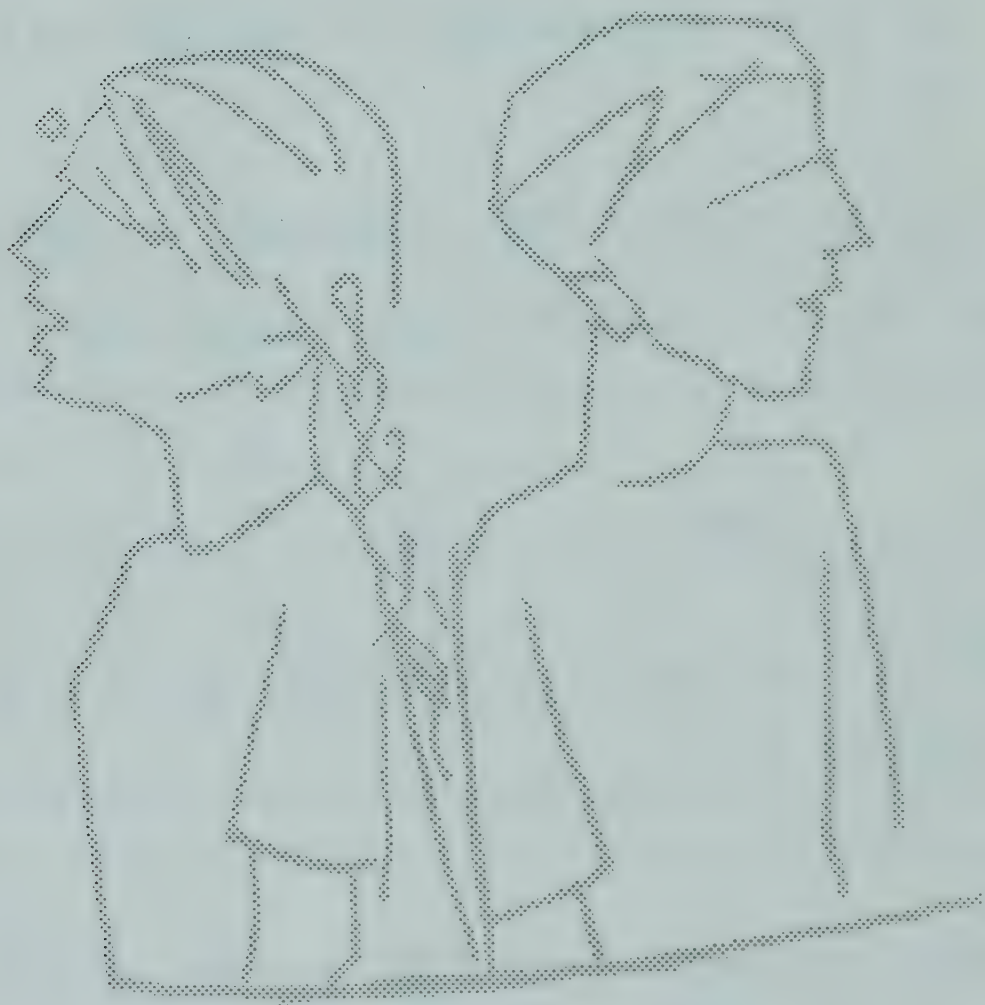
हमारी जाति ही ऐसी है

नरेश कुमार नगर निगम में सफाई कर्मचारी हैं। लेकिन वे अपनी जाति बहुल वाल्मीकि बस्ती में नहीं रहते हैं। उनका घर वाल्मीकि बस्ती के नजदीक सरोजिनी नगर में है।

उनका यह मानना है, "हमारी जाति के लोग अगर अपने मोहल्ले में ही रहेंगे तो कभी नहीं पढ़ पाएंगे क्योंकि यहां का माहौल ही ऐसा है। अगर कोई पढ़ा है तो अपने मोहल्ले से बाहर रहकर। अगर पड़ोस के चार बच्चे नहीं पढ़ रहे तो एक बच्चा जो पढ़ रहा है, वह भी उनके सम्पर्क में आकर पढ़ाई छोड़ देगा।"

नरेश कुमार का यह दृढ़ विश्वास कि विकास में अपनी जाति ही बाधक है, उस प्रवृत्ति का उदाहरण है जिसके तहत इस जाति के पढ़े-लिखे लोग भी अपनी जाति को हीन मानकर उससे पल्ला झाड़ लेते हैं। ऐसा करते हुए वे समाज के एक वर्ग में इस जाति के बारे में बनी धारणा को पुख्ता करते हैं। उनकी यह सोच और क्रिया, पीछे छूट गए लोगों के आत्मबल को कमजोर करती है, जो अभी भी किसी तरह सामाजिक गतिशीलता का सूत्र हासिल करने के संघर्ष में हैं।

वाल्मीकि समुदाय, जाति व्यवस्था के अंतिम पायदान पर खड़ा है। अन्य दलित जातियां जैसे बैरवा, बलाई और चर्मकार आदि भी वाल्मीकियों से उतनी ही दूरी रखती हैं, जितनी सवर्ण या दूसरी पिछड़ी जातियां। इसका जातीय पेशा साफ-सफाई है जिसे समाज में हीनतम कार्य का दर्जा दिया जाता है। इसके चलते इस जाति के लोगों को सदैव उपेक्षित और अपमानित होना पड़ता है।

वाल्मीकि जाति में सफाई करने वाले और अन्य काम करने वाले समान आर्थिक स्थिति के परिवारों में भी फर्क दिखाई देता है। बस्ती दो भागों में बंटी दिखाई देती है। एक तरफ पक्के मकान बने हुए हैं जो शासकीय कर्मचारियों या स्थाई सफाई कर्मचारियों के हैं। दूसरी पंक्ति ऐसे लोगों की हैं जो या तो अस्थाई सफाई कर्मचारी हैं अथवा मजदूरी करते हैं। म. प्र. दलित साहित्य अकादमी में पदस्थ राजेश इंगले कहते हैं, ''दलितों में भी वर्ग भेद जबरदस्त है। दलितों में शासकीय नौकरी या अन्य कारणों से सम्पन्न हुए लोग अपने जाति भाइयों के साथ नव सवर्णों की तरह व्यवहार करते हैं।'' दूसरी जातियों का वाल्मीकियों के प्रति उपेक्षा का व्यवहार तो समझ में आता है पर विडंबना यह है कि स्वयं अपनी ही जाति के पढ़े लिखे लोग भी उनसे उतनी ही दूरी बरतने लगे हैं।

वाल्मीकि बस्ती में स्थित शासकीय प्राथमिक विद्यालय पारगंज की शिक्षक देवयानी अग्रवाल इस बात से बहुत व्यथित रहती हैं कि उनके स्कूल में पढ़ने वाले अधिकांश छात्र वाल्मीकि या बैरवा हैं। उनकी प्रतिक्रिया गौर करने लायक है, ''ये सब भंगी वाड़े के बच्चे हैं, इनके संस्कार ही खराब हैं, इनके माँ-बाप सुबह से ही दारू पीकर आपस में लड़ते-झगड़ते और गाली बकते रहते हैं। मैं तो इस स्कूल का पानी भी नहीं पीती।''

सवाल यह है कि कक्षा में पढ़ाते समय अपने छात्रों के प्रति वह अपना यह भाव रोक पाती होंगी? वह तो प्रकट हो ही जाता होगा। ऐसी प्रतिक्रिया पर बच्चे भले ही शिक्षक के डर से कुछ न कह पाएं, परंतु उनके बालमन पर इसका गहरा असर होता होगा।

शासकीय स्कूल में कक्षा तीन की छात्रा वाल्मीकि जाति की सुरेखा की दादी सफाई कर्मचारी थीं, अब रिटायर हो गई हैं। उसके चाचा कबाड़ खरीदते हैं। उसकी दादी गर्व से कहती हैं, ''सुरेखा तो जानती भी नहीं कि हम भंगी हैं। जब उससे मोहल्ले का कोई बच्चा झगड़ता है तो वह कहती है, 'ये भंगी वाड़े के छोरे-छोरी झगड़ते हैं मुझसे। हमने अपने बच्चों को कभी ये मालूम नहीं होने दिया कि हमारी जाति भी भंगी हैं।'' सुरेखा का परिवार अपनी जातिगत पहचान को भुला देना चाहता है, ताकि जाति की वजह से जो दंश परिवार के बुजुर्गों को मिले थे, वह नई पीढ़ी को न मिलें। इसलिए वे अपने बच्चों को उनकी जाति का अहसास ही नहीं होना देना चाहते हैं।

वाल्मीकि बस्ती के लड़के हाई स्कूल तक पढ़ पाते हैं, जबकि लड़कियां माध्यमिक कक्षाओं में ही स्कूल छोड़ देती हैं। बस्ती के अधिकांश लोग यह मानते हैं कि उनके बच्चे खराब संगति और मोहल्ले के वातावरण के कारण पढ़ नहीं पाते। और इन सबका सीधा वास्ता गरीबी से है। नगर निगम में अस्थाई सफाई कर्मचारी निमी बाई कहती हैं, ''हमारी

जाति के छोरों को पता है कोई और काम मिले न मिले, साफ-सफाई का काम तो पक्का है ही। लड़के जवान होते ही 'नगर निगम जिंदाबाद' कहते हुए, नगर निगम पहुंच जाते हैं।"

निमी बाई की बात समुदाय को उपलब्ध सीमित आर्थिक अवसर की ओर इशारा करती है जिसके कारण यह जाति परम्परागत धंधों से बाहर नहीं निकल पाती। और अस्पृश्यता के गुंजलक में उलझे रहते हैं। इस उलझन से और हीनताबोध से बाहर निकलने में जातीय सफलताएं मददगार हो सकती हैं, बशर्ते खुद वो परम्परागत रूढ़ियों वाले खेमें में जाकर न खड़ी हो जाएं। ■

आत्मविश्वास ने बदली पहचान

जाति एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में अलग-अलग बसाहटों की रचना करती है। एक जाति के लोग अक्सर समान भौगोलिक इलाकों में रहते हैं। इससे एक साझा भौगोलिक इकाई और पहचान की रचना भी होती है। इन भौगोलिक इकाइयों में कोई भी व्यक्ति सफल होता है, किसी नये क्षेत्र में प्रवेश करता है, और उसकी इस गतिशीलता से उसकी भौतिक स्थिति में कोई सकारात्मक बदलाव आता है तो वह उस इकाई के बाकी लोगों के लिए अनुकरणीय हो जाता है। ऐसी सफलताओं से लोग सामूहिक आत्मविश्वास का अनुभव करते हैं, और प्रगति पथ पर चल पड़ते हैं।

मध्यप्रदेश के मालवा क्षेत्र की अनुसूचित जातियों में बैरवा जाति ऐसा ही एक उदाहरण है। बैरवा जाति मुख्यतः राजस्थान से पलायन करके मालवा में आई है। यहां आकर उन्होंने कपड़ा मिल की मजदूरी को आजीविका के रूप में अपनाया। अन्य दलित जातियों की अपेक्षा तेजी से विकास करने में इस नकद मजदूरी का बड़ा हाथ रहा है।

आज शिक्षा, व्यापार, साहित्य, राजनीति, समाज सेवा, प्रशासन, संस्कृति आदि कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं है, हर क्षेत्र में इस जाति का प्रतिनिधित्व है। उनके अपने स्कूल हैं, मंदिर हैं, गैस एजेंसी हैं, पेट्रोल पम्प हैं। 'कालिदास सम्मान' प्राप्त कलाकार श्री प्रेम मनमौजी पूरे आत्मविश्वास के साथ कहते हैं "ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहां हम न हो।" अन्य दलित जातियां जहां अभी आरक्षण के सहारे उठने का प्रयास कर रही हैं, वहीं बैरवा जाति ने

अपना स्तर काफी हद तक ऊपर उठा लिया है। इनकी इस आश्चर्यजनक उन्नति पर इतिहासविद् श्री श्यामसुंदर निगम कहते हैं ''इतिहास में किसी अन्य जाति ने अपने आपको इतनी कम अवधि में इस कदर बदला हो, ऐसा उदाहरण दुर्लभ है। समाज व्यवस्था के निचले पायदान से ऊपर उठकर इस जाति द्वारा अपने आपको सम्मानजनक स्थिति में ले आना, हैरत की बात है। यह जाति आरक्षण या अन्य शासकीय कृपा की मोहताज नहीं है।''

बैरवा जाति की मौजूदा सामाजिक उपलब्धियों का प्रमुख कारण है इस जाति का आत्मविश्वास। आजादी के पूर्व से ही इस जाति द्वारा अपने को आर्थिक और सामाजिक रूप से सक्षम बनाने के सामूहिक प्रयास किये गये। प्रोफेसर श्यामलाल वाल्मीकि ने अपनी पुस्तक 'अनटचेबल मूवमेंट इन इंडिया' में बैरवा जाति के संघर्ष का विस्तृत वर्णन किया है। इस जाति के अखिल भारतीय संगठन 'बैरवा महासभा' की स्थापना सन् 1925 में ही हो गई थी। इस संगठन के माध्यम से इस जाति ने अपने परम्परागत धंधों को त्यागा और भेदभाव एवं छुआछूत के खिलाफ संगठित लड़ाइयां लड़ीं।

उज्जैन के वर्तमान महापौर मदनलाल ललावत इसी जाति के हैं। शहर में बैरवा जाति के व्यक्ति द्वारा स्थापित पहला स्कूल, मेघदूत पब्लिक स्कूल के श्री मोतीलाल मरमट के अनुसार ''हमारी जाति की उन्नति का प्रमुख कारण हमारे समाज (जाति) के सफल लोग हैं, वे ही हमारे प्रेरणा स्रोत हैं। हमारी जाति का आदमी सोचता है कि जब एक भाई का बच्चा पढ़ सकता है, अच्छे पद पर पहुंच सकता है तो वह अपने बच्चों को क्यों नहीं पढ़ा सकता।''

श्री मरमट स्वयं एक मिल मजदूर के बेटे हैं। वह अपनी संघर्ष कथा इस तरह सुनाते हैं, ''हमारा परिवार बड़ा था और पिताजी की आमदनी कम। पिताजी ने परेशानी उठाकर भी मुझे पढ़ाया। घर छोटा था, इसलिये मैं नवीन छात्रावास में जाकर पढ़ता था। आठवीं तक आते-आते मैं ट्यूशन करके अपना खर्च स्वयं चलाने लगा। फिलहाल वे शिक्षा विभाग में लेखापाल है। उनका बेटा निजी स्कूल चलाता है।''

इसी जाति के गजराज लौदवाल राजमिस्त्री हैं। उनकी बीवी को एनीमिया है। बीमारी में ज्यादा खर्च होने के कारण उनके बेटे नितिन का स्कूल छूट गया। लेकिन गजराज ने आस नहीं छोड़ी, वे कहते हैं, ''मैं कहीं से भी पैसे की व्यवस्था करूंगा, पर नितिन को पढ़ाऊंगा जरूर। वह अभी स्कूल नहीं जा पा रहा है, यह देखकर मुझे बहुत तकलीफ होती है।'' कुछ ऐसी ही परिस्थिति में दुर्गेश भी निजी स्कूल से बाहर हो गया, परंतु उसके पिता योगेश निर्मल (फ्रीज मैकेनिक) ने अब उसकी फीस की रकम जमा कर ली है, ताकि अगले वर्ष से दुर्गेश अपनी पढ़ाई जारी रख सकें।

इस जाति में जबरदस्त आत्मविश्वास का कारण वे लोग हैं जो शिक्षा पाकर, उनके मोहल्ले के बीच से उभरकर सफल लोगों की गिनती में आ गए हैं। उन्हें देखकर जाति के अन्य लोग भी अपनी क्षमता के बारे में संदेह नहीं रखते। उज्जैन में अन्य अनुसूचित जातियां अभी भी अपने मन से झिझक या हीनता पूरी तरह नहीं निकाल पाई हैं, वहीं बैरवा जाति के मामले में ऐसा नहीं है। ■

फिर यहीं आकर फंस गई

केवलराम कोरकू कहते हैं, ''हम जंगल में रहने वाले लोग हैं। पहले स्कूल नहीं जाते थे, स्कूल से डरते थे। शिक्षक को आते देख दरवाजा बंद कर लेते थे। ऐसे समाज का बच्चा कैसे इतना जल्दी-जल्दी सिखेगा।'' कुछ पालक सहजता से स्वीकार करते हैं कि उनके बच्चे पढ़ाई में सुस्त होते हैं। उनके बच्चे की पढ़ाई काफी धीमी चलती है, ''महाजन के बच्चे तो एक बार में समझाने से कोई भी बात समझ जाएंगे, परन्तु हमारे बच्चों को वही बात कई बार समझानी पड़ती है।''

खुद को हीन समझने वाले आदिवासी समाज के बीच कोई आदिवासी, वह भी महिला आ जाए जो सिर्फ पढ़ी लिखी ही नहीं, बल्कि उनके स्कूल की प्रधान पाठक हो, तो उस समाज की प्रतिक्रिया समझी जा सकती है। उर्मिला उइके, इन आदिवासी पालकों की अपने बारे में नकारात्मक सोच वाली धारणाओं को तोड़ने का यथेष्ट उदाहरण हैं। स्नातक होकर उन्होंने शिक्षा में डिग्री भी ली। कुछ वर्ष तक हरदा की प्राथमिक शाला में पढ़ाने के बाद बड़ागांव के कन्या छात्रावास में वार्डन रहीं। और अब चूंचड़ा प्राथमिक शाला की प्रधानाचार्य के पद पर नियुक्त हुई हैं।

कोरकू बहुल चूंचड़ा गांव की प्राथमिक शाला में मैडम उर्मिला उइके के आने से गांव के लोगों को सुखद आश्चर्य हुआ होगा। मैडम उइके को भी अपने लोगों के बीच जिम्मेवारी से काम करने का मौका पाकर खुशी हुई होगी, ऐसा हम अनुमान लगा सकते थे। लेकिन

सच्चाई थोड़ी उल्टी है। बड़ागांव कस्बे के बालिका छात्रावास में पिछले दस वर्षों से वार्डन रहीं मैडम उइके के लिए चूंचड़ा शाला के प्रधानाध्यापक का पद पुरस्कार नहीं, सजा लगने लगा है।

हमने उनके दुख के कारणों को जानने की कोशिश की।

कुछ तो सामान्य बातें हैं। मसलन उनका परिवार बड़ागांव में रहता है। बच्चे शहर के स्कूल में पढ़ते हैं। वार्डन के रूप में काम का कोई बहुत ज्यादा बोझ नहीं था। इसलिए वे अपना काफी समय परिवार के साथ बिताती थीं। चूंचड़ा से बड़ागांव के बीच यातायात के साधन की कमी के कारण उनका काफी वक्त आने-जाने में निकल जाता है।

उनकी दूसरी परेशानी चूंचड़ा स्कूल में उनकी अपनी स्थिति है। प्रधान होने के बावजूद स्कूल और शाला संकुल की शिक्षक बिरादरी में उनको वह सम्मानीय जगह नहीं मिल पाई है जो शायद एक गैर आदिवासी शिक्षक की होती है। स्कूल में शिक्षक उनका कहा नहीं मानते। उनकी प्रशासनिक और शैक्षणिक योग्यता पर भी सवालिया निशान लगाते हैं। सुश्री उइके बताती हैं कि वे मुझ पर सरेआम फब्तियां कसते हैं, ''इसको कुछ आता जाता नहीं, आरक्षण कोटे से आई है।'' गौरतलब है कि स्कूल के दोनों सहायक शिक्षक सवर्ण हैं। शाला संकुल में भी पिछड़े और सवर्ण शिक्षकों का ही वर्चस्व है। कोई दलित शिक्षक नहीं है वे एकमात्र आदिवासी शिक्षक हैं। इन स्थितियों में वे खुद को लाचार और अकेला पाती हैं।

तीसरी समस्या स्थानीय परिवेश और बच्चे हैं। हालांकि कभी-कभार बच्चों के साथ उनका व्यवहार सहानुभूति का रहता है। लेकिन आमतौर पर उनका व्यवहार एक उच्च जाति के शिक्षक से अलग नहीं है। मैडम उइके भी इन शिक्षकों के आरोप, ''बहुत गंदे हैं, कितना भी समझाओ नहीं समझते, स्कूल आने की कोई तमीज ही नहीं है आदि'' को ही दोहराती हैं। यानी वे इस बात पर गौर नहीं करतीं विद्यालय आने वाली इन बच्चों की पहली पीढ़ी है। और वे एक ऐसे समाज से आते हैं जहां स्कूल अभी भी एक अजूबा जगह है। वह स्थानीय पालकों और बच्चों की आदत से आजिज आकर कहती हैं, ''सरकार ने मुझे फंसा दिया। कितनी कठिनाई से तो इस माहौल से निकल पाई थी, मुझे फिर से यहीं लाकर पटक दिया।''

इस माहौल! यानी गांव, आदिवासी, पिछड़ापन!

मैडम उइके का जीवनवृत गौर करने लायक है। वे आदिवासियों में सर्वोच्च मानी जाने वाली राजगोंड जाति की हैं। शुरू में धर्म परिवर्तन कर उन्होंने इसाई धर्म स्वीकार किया। पढ़ाई-लिखाई मिशनरी स्कूल में हुई। इसाई धर्म से बाहर अपनी जाति में उनकी

शादी हुई। बड़ागांव जैसे छोटे कस्बे में उनका जीवन व्यवस्थित हो चुका था। उनके जीवन का ग्राफ लगातार ऊंचा उठता रहा। प्राथमिक स्कूल का प्रधानाध्यापक बनना भी कोई पदावनति नहीं है, परंतु उनके जीवन में फिर से गांव की उपस्थिति ने उन्हें डिगा दिया है।

मैडम उइके का अनुभव आदिवासी समाज की एक जटिल तसवीर पेश करता है। सुश्री उइके जैसे लोगों से अपनी जाति और उसकी सामाजिक चुनौतियों को समझने की आशा की जा सकती है। यह एक आदर्श मांग है। स्थानीय भाषा जानने वाले शिक्षक की वकालत शिक्षाशास्त्री भी करते हैं। ग्रामीण पालकों, गरीब बच्चों को भी वे अधिक करीब लगते है। यह स्थापित तर्क है कि स्थानीय भाषा में कही, सुनी या पढ़ी बात को बच्चे जल्दी समझ जाते हैं। परंतु मैडम उइके ने हथियार डाल दिये हैं। वे यहाँ से वापस लौट जाना चाहती हैं। ऐसा करने के पीछे क्या हम उस शिक्षा व्यवस्था और उस समाज को कारण मानेंगे जिसमें समुदाय की बनिस्बत व्यक्तिगत उत्थान पर ज्यादा जोर होता है। निष्कर्ष निकालना आसान नहीं है फिर भी यह एक तथ्य तो है कि गांव से कस्बाई माहौल तक बढ़कर गईं मैडम उइके एक आदिवासी गांव में बड़े पद पर लौटकर बहुत खुश नहीं हैं। ■

मंदिर में इ.जी.एस.

मध्यप्रदेश शिक्षा गारंटी योजना (इ.जी.एस.) 1997 में मध्यप्रदेश में शुरु हुई। इस योजना में प्राथमिक शिक्षा को लोकव्यापी बनाने के उद्देश्य तथा सभी बच्चों के शिक्षा पाने के बुनियादी अधिकार को स्वीकार करते हुए समुदाय को निर्णायक भूमिका में देखा गया। किसी भी ग्राम सभा की मांग पर 90 दिन के अन्दर उस गांव में शिक्षा गारंटी शाला की व्यवस्था कर दी जाती है। शर्त यह है कि उस बसाहट के एक किलोमीटर के दायरे में कोई प्राथमिक शाला न हो, आदिवासी गांव हो तो उसमें 6 से 14 वर्ष के न्यूनतम 25 और सामान्य गांव में 40 बच्चे हों। गुरुजी का मानदेय, शिक्षण सामग्री व सहायक शिक्षण सामग्री शासन उपलब्ध करवाता है। शाला के लिए जगह की व्यवस्था स्थानीय समुदाय को करनी होती है। शाला में एक ही गुरुजी होते हैं।

पवासा गांव, हरदा जिला के वनांचल में स्थित है। यह एक आदिवासी ग्राम है। यहां की इ.जी.एस. शाला का अपना भवन नहीं है, शाला गांव के एक मंदिर में लगती है। शाला के नाम पर गुरुजी के पास एक कुर्सी, लोहे के दो बक्से, दो ब्लैक बोर्ड और कुछ सहायक शिक्षण सामग्री होती है। एक ही गुरुजी हैं यदि वह किसी काम से बाहर जाते हैं तो शाला की छुट्टी हो जाती है। पालक बताते हैं कि मंदिर में गणेश पूजा व दुर्गा पूजा के समय छुट्टी रखनी पड़ती है। गांव में कोई दूसरा सामुदायिक भवन नहीं है। बच्चे इसे स्कूल की बजाय मंदिर ही समझते हैं।

हमने अवलोकन के दौरान देखा कि गुरुजी की व्यस्तता शिक्षण कार्य की बजाय गैर शैक्षणिक कार्यों में अधिक होती है। गुरुजी ने बताया कि उन्हें 18 रजिस्टर भरने पड़ते हैं। ब्लॉक व जिला जन शिक्षा केन्द्र के लिए अलग से जानकारी बनाकर, भेजनी होती है। वोटर लिस्ट, पल्स पोलियो, कुपोषण का सर्वे, ग्राम सम्पर्क अभियान से जुड़े ऐसे बहुत सारे काम हैं जिनमें गुरुजी व्यस्त रहते हैं। इसका सीधा असर शाला पर होता है। कई बार तो शाला लगती ही नहीं, और लगती है तो देर से। पालक बताते है कि यहां इ.जी.एस. महीने में लगभग 15 दिन ही लगता है। महीने में चार या पांच रविवार के अलावा दो दिन मानदेय प्राप्त करने में लग जाता है, क्योंकि उसके लिए ब्लॉक जाना होता है। एक दिन जन शिक्षा केन्द्र पर मीटिंग, दो से तीन दिन डाक इधर-उधर भेजने में, महीने में एक या दो दिन शिक्षक निजी छुट्‌टी पर रहता है। अक्सर हम भी जब गए, गुरुजी पढ़ाई से इतर किसी दूसरे ही काम में लगे दिखे। इन सारी स्थितियों का खामियाजा बच्चों की पढ़ाई को उठाना पड़ता है।

यहां गौर करने की बात यह भी है कि इ.जी.एस. शाला में अलग-अलग स्तर के बच्चे होते हैं। इनमें से अधिकांश स्कूल में आने वाली पहली पीढ़ी ही है। इन दोनों स्थितियों को ठीक तरह से संभालना अपने आप में इतनी जटिल हैं कि अकेले शिक्षक के वश की बात नहीं है। ऐसे में गुरुजी पर अतिरिक्त कामों के बोझ गुरुजी और बच्चों दोनों पर अन्याय ही कहा जाएगा।

इ.जी.एस. में ऐसा प्रावधान है कि शाला का समय, गुरुजी व पालक मिलकर तय कर सकते हैं। यह छूट दी गई है कि शिक्षक शैक्षणिक कैलेण्डर बनाए और समुदाय अपना कैलेण्डर बनाए। दोनों को मिलाकर ऐसा समय तय किया जाए ताकि ज्यादा से ज्यादा बच्चे स्कूल आ सकें। पवासा में इ.जी.एस. शाला का समय 11.30 बजे से 4.00 बजे तक का है। परन्तु गुरुजी कभी सुबह 8.00 बजे आकर घंटी लगा देते हैं तो कभी बारह बजे। कभी-कभी 1.00 बजे के बाद भी स्कूल लगने की बताते हैं, यानि स्कूल अक्सर निश्चित समय पर नहीं लगता। शिक्षा गारंटी शाला छोड़ चुके कई, छात्रों ने बताया, ''गुरुजी समय चुकाकर (निर्धारित समय के बाद) स्कूल लगाते हैं। तब तक या तो हम बैल चराने या खेलने निकल जाते हैं।''

शाला में चार से छह वर्ष व कुछ छह से नौ वर्ष तक के बच्चे ही आते हैं। ज्यादातर बच्चे शाला नहीं आते हैं। हमने इस वर्ष (2002-03) अवलोकन के दौरान पाया कि शाला में बच्चों की औसत उपस्थिति की संख्या 8 से 15 के बीच थी। परन्तु गुरुजी की हाजिरी रजिस्टर से उपस्थिति के आश्चर्यजनक आंकड़े निकले (देखें टेबिल)।

इसी तरह इस शाला में नामांकन का तरीका चौंकाने वाला है। गांव के 6 से 14 वर्ष के सभी बच्चों का नाम इ.जी.एस. शाला की रजिस्टर में दर्ज है चाहे वे कभी स्कूल आएं या न आएं। जैसे ही बच्चा 14 वर्ष की उम्र पार करता है, उसका नाम रजिस्टर से काट दिया जाता है। हमने यह पाया कि 10 वर्ष की उम्र के ऐसे कई लड़कियों व लड़कों के नाम दर्ज हैं जो साल भर से स्कूल ही नहीं आए ।

इ.जी.एस. के तहत पालकों को उनके गांव में स्कूल तो मिल गया है, परन्तु जिन परिस्थितियों में वह चल रहा है, उनमें स्कूल को लेकर कोई उत्साह नहीं दिखता। एक पालक अनमने भाव से कहते हैं, ''पढ़ाई के प्रति बच्चों में रुचि पैदा हो, स्कूल जाने की आदत पड़ जाए। इस स्कूल से इतनी ही आशा है।'' कुछ लोगों ने चर्चा के दौरान इ.जी.एस. शाला

शिक्षा समितियाँ

''मध्यप्रदेश के गांवों में विकेंद्रीकरण के तहत तीन समितियां गठित की गई हैं जिनका जिम्मा स्कूल की हर तरह से देखरेख करना है। ये समितियां हैं- ग्राम शिक्षा समिति, शाला विकास समिति और पालक शिक्षक संघ। सच यह है कि पवासा जैसे गांव में इन समितियों के कई सदस्यों को मालूम भी नहीं कि वे इन समितियों के सदस्य हैं।

सरपंच के साथ गुरुजी के संबंध अच्छे हैं। गांव के पंच श्रवण, शिक्षक पालक संघ के अध्यक्ष हैं। परंतु वे गुरुजी की ढाल बने हुए हैं, इसका मुख्य कारण है कि वे शिक्षक के वार्ड से ही चुनाव लड़ते हैं। वे गुरुजी के खिलाफ कोई भी शिकायत सुनने को तैयार नहीं दिखते।

शाला विकास समिति के सचिव खुद गुरुजी और अध्यक्ष शिवराम गोंड हैं। शिवराम का कहना है, ''गांव के 10-15 लोग इकट्ठा हुए थे, सभी ने मुझे अध्यक्ष चुन लिया। उसके बाद से कोई बैठक नहीं हुई।'' जब भी शिक्षक को काम होता है, जैसे तनख्वाह के लिए हस्ताक्षर तो वे घर पर चले आते हैं।,जबकि यह काम शाला विकास समिति की बैठक में होना चाहिए।

ग्राम शिक्षा समिति में पांच सदस्य हैं। इस समिति के सचिव भी गुरुजी और अध्यक्ष शिवराम गोंड ही हैं। एक महिला पंच भी हैं परंतु स्कूल के काम में उनकी कोई भूमिका नहीं होती।

जो लोग इन समितियों में हैं उनकी लड़कियों को गुरुजी ने छात्रवृति दिलवा दिया है जबकि वे स्कूल में आती भी नहीं। यह तथ्य हम इसलिए जान सके क्योंकि हमने पंचायत और स्कूल से सूची ले ली थी। इस तरह से लाभान्वित लोग ही इ.जी.एस. शाला को अच्छा बताते हैं।''

टेबिल 3 : शाला में उपस्थिति

दिनांक	18.04.02	27.04.02	19.09.02	3.10.02	4.10.02	5.10.02
उपस्थिति प्रत्यक्ष गिनती से	8	7	9	10	15	7
उपस्थिति हाजिरी रजिस्टर से	28	28	22	27	30	26

को टाइम पास केन्द्र की संज्ञा दे डाली। ननु गोंड ने कहा, "हम कभी स्कूल जाते हैं तो गुरुजी कागज पोतता (लिखता) मिलता है, कोई पढ़ाई नहीं होती, यह टाइम पास है।"

इ.जी.एस. योजना में सर्वाधिक महत्व स्थानीय समुदाय को दिया गया है, लेकिन पवासा में इस शाला की जो तस्वीर सामने आई है उसको लोग सरकारी झुनझुना ही मानते हैं। ऐसा कहीं नहीं लगता कि यह विद्यालय गांव वालों की मांग पर खुला है और यह उनकी अपनी शाला है। संभवतः उनके मन के स्कूल की तसवीर, इ.जी.एस शाला से मेल नहीं खाती।

यह अजीब विरोधाभास है कि शासन एक तरफ जिला मुख्यालयों पर उत्कृष्टता विद्यालय खोल रहा है, जहां पर पर्याप्त शिक्षक, छात्रावास, भवन, खेल सामग्री ग्राउण्ड सभी तरह की सुविधा दे रहा है, दूसरी तरफ शिक्षा गारंटी शाला जिसके पास न्यूनतम बुनियादी संसाधनों से वंचित शाला, गैर शैक्षणिक जिम्मेवारियों से लदे अकेले गुरुजी हैं।[1] ■

1. हालांकि इ.जी.एस. में दो शिक्षकों का प्रावधान है, लेकिन इसकी शर्त है कि शाला में 40 बच्चे नियमित रूप से आएं और बीईओ या जिला राजीव गांधी मिशन के संचालक के तीन निरीक्षणों में हाजिर मिलें, तभी दूसरा शिक्षक दिया जाता है। पवासा की इ.जी.एस. शाला को देखते हुए इस नियम के तहत ऐसा होना संभव नहीं लगता।

निजी स्कूलों के स्याह पहलू

संजू वाल्मीकि, दुर्गेश निर्मल (बैरवा), रचना वाड़िया (बैरवा), मीरा कुम्भकार (कुम्हार) ज्योति गेहलोद, शक्ति बैरवा, नितिन लोदवाल (बैरवा) जैसे कई बच्चे हैं जो स्कूल से निकाल दिए गए या पालकों ने उन्हें स्कूल भेजने से मना कर दिया। सभी बच्चे प्राइवेट स्कूलों में पढ़ रहे थे। इनके माँ-बाप की आर्थिक स्थिति कमजोर है। समाज के दलित तथा पिछड़े वर्ग के ये बच्चे आज भी पढ़ना चाहते हैं, पर इनके पास अपने स्कूलों की बकाया फीस चुकाने लायक रकम नहीं है। प्राइवेट स्कूलों में पढ़ाई जारी रखने की सबसे पहली शर्त फीस है। इनमें से किसी को फीस के बकाया 300 रुपये देना है, किसी को 400 रुपये तो किसी को 500 रुपये, इससे ज्यादा नहीं। 40 से 50 रुपये मासिक फीस वाले प्राइवेट स्कूलों की यह पूरे वर्ष की फीस है।

सवाल यह उठता है कि जब ये पालक अपने बच्चों की फीस जमा नहीं कर सकते थे तो फिर उन्होंने अपने बच्चों को सरकारी स्कूल में क्यों नहीं भेजा? प्राइवेट स्कूल में ही क्यों भर्ती करवाया? बस्ती के आसपास सरकारी स्कूल न होना एक कारण हो सकता है। परन्तु बड़ी संख्या ऐसे बच्चों की है जो शासकीय स्कूल नजदीक होने के बावजूद प्राइवेट स्कूलों में पढ़ने जा रहे हैं। इस बढ़ती प्रवृत्ति पर कुछ शिक्षकों की टिप्पणी इस प्रकार थी, "अब चलन यह हो गया है कि हर माँ-बाप चाहता है कि उनका बच्चा *पैंट-टाई* में स्कूल जाए, मजदूर भी यही चाहता है। पालकों की इसी मानसिकता से प्राइवेट स्कूल फल-फूल रहे हैं और सरकारी स्कूल ढेर हो रहे हैं।"

पालक यदि शासकीय स्कूल से विमुख हो रहे हैं तो उसकी एक वजह शासकीय स्कूलों का पालकों की अपेक्षा पर खरा नहीं उतरना भी है। रचना वाडिया स्कूल जाना छोड़ चुकी है। उसकी माँ गीता वाडिया ने आर्थिक तंगी की वजह से अपनी बेटी की पढ़ाई बंद करा दी, परंतु उसे शासकीय स्कूल में नहीं भेजा। सुश्री गीता सवाल करती हैं, "सरकारी स्कूलों में आजकल पढ़ाई होती कहां है? हमने पहले रचना को सरकारी स्कूल में ही डाला था। पर वहां ये पांचवी कक्षा में दो बार फेल हो गई, फिर हमने इसे निर्मल मांटेसरी स्कूल में भर्ती किया।"

उत्तमनगर पब्लिक स्कूल

इस स्कूल के पास भवन के नाम पर एक बड़ा सा हॉल है। जिसमें दो पाली में आठ कक्षाएं लगती हैं। यह हॉल भी स्कूल का अपना नहीं बल्कि बैरवा जाति के पंचायत भवन का एक हिस्सा है। 20 फीट लम्बे और 20 फीट चौड़े इस हॉल में पर्दों के सहारे कक्षा विभाजन किया गया है। इतनी सँकरी जगह है कि बच्चों को अपने जूते-चप्पल छत पर उतारने पड़ते हैं। कमरे में आने के बाद हॉल का दरवाजा अन्दर से बंद कर दिया जाता है। चूंकि गली में खूब आवाजाही रहती है इसलिए पर्दे हमेशा गिरे रहते हैं। कक्षा में कहीं से भी सूरज की रोशनी नहीं आती। एक कक्षा में लिखाने का काम चल रहा होता हैं तो दूसरी में पढ़ने का। अन्यथा साथ वाली कक्षा की पढ़ाई में व्यवधान होता है। बच्चों के खेलने के लिए कोई जगह नहीं है। न ही कोई पाठ्येतर कार्यक्रम होते हैं। पूरे साल में केवल दो मौके हैं जब बच्चों के चेहरे पर खुशी और उत्साह देखा जा सकता है वह गणेश चतुर्थी और सरस्वती पूजा का है।

स्कूल में पांच शिक्षक हैं। लगभग सभी प्रधानाध्यापक के परिवार से हैं। मामला कुटीर उद्योग जैसा है। शिक्षकों के पास उपयुक्त डिग्री तो है लेकिन वे प्रशिक्षित नहीं हैं, न ही स्कूल की तरफ से उन्हें कभी प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है। कभी ऐसा अवसर आता भी है तो उसका इस्तेमाल सिर्फ प्रधानाध्यापक ही करते हैं। शिक्षकों को वेतन के रूप में मिलने वाली रकम और रिकार्ड में लिखी रकम में काफी अंतर होता है। वेतन की रकम अत्यंत कम है। महीने में एक छुट्टी की मंजूरी है उसके बाद की गैरहाजिरी पर तनख्वाह कटती है। स्कूल संबंधी किसी भी निर्णय में शिक्षकों की भागेदारी नहीं होती। स्कूल की इन स्थितियों को जांचने परखने की जहमत शिक्षा विभाग नहीं उठाता। कभी कोई पूछ परख हुई हो, ऐसा नहीं दिखा।

जब शासकीय स्कूल पालकों की अपेक्षा पूरी नहीं कर पा रहे हैं तो पालकों को प्राइवेट स्कूल का रुख करना पड़ रहा है। यह भी सच है कि प्राइवेट स्कूलों की चमक-दमक और अंग्रेजी माध्यम की पढ़ाई पालकों को आकर्षित करती है। स्कूली पोशाक, नियमित स्कूल लगना, शिक्षक की लगातार उपस्थिति ये कुछ और आकर्षण हैं जिसका सरकारी स्कूलों में नितांत अभाव है।

परंतु सभी प्राइवेट स्कूलों का मंजर एक जैसा हो ऐसा भी नहीं है। कहीं-कहीं तो इस तरह के स्कूल, वास्तव में बेरोजगारों के लिए वैकल्पिक रोजगार का एक साधन मात्र हैं। इन स्कूलों में न पर्याप्त आधारभूत शिक्षण सामग्री होती है और न ही प्रशिक्षित अध्यापक। यहाँ तक कि कई स्कूलों में तो बैठने के लिए भी पर्याप्त जगह नहीं होती। यह सरकारी स्कूलों की असफलता ही है जो ऐसे स्कूलों के लिए जगह तैयार कर रही है।

उज्जैन के नजदीक के महादेव पुरा गांव के दलित समुदाय के भोलाराम सिनम कहते हैं, ''हमारा श्रवण एक प्राइवेट स्कूल में पढ़ने जाता है। इस साल वह दूसरी कक्षा में 86 प्रतिशत नम्बर लाया, अगर हम उसे सरकारी स्कूल में भेजते तो वह पास भी नहीं हो पाता।'' खास बात यह है कि श्रवण, गांव के जिस 'आदर्श जीवन स्कूल' में पढ़ता है, यह स्कूल गाय, ढोर बांधने की जगह पर लगता है। माध्यमिक स्तर वाले इस स्कूल में सिर्फ एक ही शिक्षिका पढ़ाती हैं। इस वस्तुस्थिति के बावजूद पालक शासकीय स्कूल में अपने बच्चों को भेजना नहीं चाहते, जहां अपेक्षाकृत अधिक खुली जगह होती है और अध्यापक भी प्रशिक्षित होते हैं। शहरों और कस्बों के बाद अब यह प्रवृत्ति गांवों में भी तेजी से फैल रही है। ■

दोहरा नामांकन

सरकारी स्कूलों को प्राइवेट स्कूलों से अब नई चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। उनके लिए बच्चों की आवश्यक संख्या जुटा पाना कठिन साबित हो रहा है। शिक्षकों के अनुपात में छात्रों की संख्या लगातार कम होती जा रही है। शहरी इलाकों में प्राथमिक स्कूलों में यह समस्या कुछ ज्यादा ही गम्भीर है।

इस समस्या से कई नई बातें सामने आई हैं। एक बड़ी विसंगति दोहरा नामांकन की है। शहरी क्षेत्रों में तो शिक्षक-छात्र अनुपात को कायम रखने में शिक्षकों का व्यक्तिगत हित शामिल हो गया है। गौरतलब है कि शासन की युक्तियुक्तकरण नीति के तहत शासकीय स्कूलों में शिक्षक एवं बच्चों में 40:1 का अनुपात होना चाहिए। जिस स्कूल में यह अनुपात नहीं पाया जाता, वहां से अधिशेष शिक्षक का तबादला कर दिया जाता है। इसके तहत उन्हें शहर से कहीं दूर गांव के स्कूलों का तबादला झेलना भी पड़ सकता है।

उज्जैन के पारगंज की प्राथमिक शाला में 152 बच्चे हैं। इनको पढ़ाने के लिए पांच शिक्षक हैं। इनमें से लगभग 20 प्रतिशत बच्चे ऐसे हैं जिनका नामांकन दो स्कूलों में है। इस स्कूल की सुरेखा वाल्मीकि, एक साथ दो स्कूलों में पढ़ती है। वह सुबह शासकीय प्राथमिक शाला में और दोपहर में प्राइवेट स्कूल में पढ़ने जाती है। उससे हमारी मुलाकात सरकारी स्कूल में हुई। वह कहती है, ''यहां तो सिर्फ टाइम पास करने आती हूँ। स्कूल के शिक्षक हमारे घर पर सर्वे करने आये थे और उन्होंने बताया कि सरकारी स्कूल में आने पर गेहूँ

मिलेगा। उन्होंने हम तीनों भाई-बहनों का नाम लिख लिया।" गौर करने की बात है कि सुरेखा प्राइवेट स्कूल में चौथी तथा सरकारी स्कूल में तीसरी कक्षा की छात्रा है।

सुरेखा की चाची सुनीता बाई सुरेखा का दो स्कूलों में पढ़ाने का राज बताती हैं, "हम सुरेखा को दो स्कूलों में गेहूँ मिलने के लालच में थोड़े ही भेजते हैं। स्कूल से मिला गेहूँ इतना खराब होता है कि हम उसे बकरियों के आगे डाल देते हैं। हम तो उसे दिन भर पढ़ाई में लगाए रखने के लिए ही दो स्कूल में भेजते हैं।" पूजा नामदेव (दर्जी) भी दो स्कूल में पढ़ती है। उसकी माँ कहती हैं, "पूजा की सहेली से मैडम ने पूजा का नाम स्कूल में लिखवाने को कहा था, फिर मैंने भी सोचा कि दो जगह पढ़ने जाएगी तो दिनभर व्यस्त रहेगी, इधर-उधर खेलती नहीं रहेगी, किसी से झगड़ेगी भी नहीं।"

सुरेखा ने बताया,"मैडम कहती हैं, प्राइवेट स्कूल में पढ़ने वाली अपनी सहेलियों को भी ले आना, हम उनका नाम लिख लेंगे।" इतना ही नहीं स्कूल में बच्चों को टिकाए रखने के लिए शिक्षक नई-नई तरकीबें निकालते रहते हैं ताकि तबादले से बचे रहें। पारगंज स्कूल के हेडमास्टर श्री जगजीवन बताते हैं कि कक्षा पांचवीं के बच्चों की परीक्षा फीस इक्यावन रुपये होती है, इसे शिक्षकों ने आपस में चंदा करके भरा। पिछले दो वर्ष से इस स्कूल में लड़कियों का नामांकन भी शुरू हो गया। पहले यह सिर्फ लड़कों का स्कूल था। एक बार कक्षा पांचवीं की ही लड़की कौशल्या को छात्रवृत्ति के लिए फोटो खिचाना था, उसके पैसे प्रधानाध्यापक को अपनी जेब से भरने पड़े। वे कहते हैं, "इस तरह के बच्चे आते हैं, हमारे स्कूल में। क्या कर सकते हैं? अगर स्कूल में बने रहना है तो यह सब करना ही पड़ेगा।"

कुछ बच्चे ऐसे हैं जो पहले प्राइवेट स्कूल में पढ़ते थे परन्तु वहां की फीस ना भर पाने के कारण इस स्कूल में आ गए हैं। रोहित बैरवा, विक्रम, कैलाश तथा सावित्री वाल्मीकि आदि ऐसे ही छात्र हैं। गायत्री तो एक प्राइवेट स्कूल से पांचवीं पास भी हो गई, परन्तु उसको स्कूल से टी. सी. नहीं मिली, क्योंकि वह पूरी फीस नहीं भर पाई थी। अब वह पारगंज के शासकीय स्कूल में पांचवीं कक्षा में पढ़ रही है। कैलाश वाल्मीकि के पिता गोपाल का कहना है, "समय पर फीस ना भरो तो प्राइवेट स्कूल में बच्चों को घुसने ही नहीं देते। अभी कैलाश को सरकारी स्कूल में भेज रहा हूँ ताकि इसकी नियमितता न टूटे। फीस का जुगाड़ करके इसे मैं प्राइवेट स्कूल में ही पढ़ाऊंगा।"

इस बस्ती में अभी तक तो सरकारी और प्राइवेट स्कूल का ही द्वंद्व था लेकिन अब एक तीसरा स्कूल उपस्थित हो गया है। उज्जैन की एक समाज सेवी संस्था 'जन शिक्षण संस्थान' ने कामकाजी बच्चों के लिए विशेष स्कूल खोले हैं। विशेष स्कूलों की यह योजना महिला एवं बाल विकास मंत्रालय द्वारा चलाई गई है। इसके तहत 40 कामकाजी बच्चों की

संख्या पर एक स्कूल खोला जा सकता है। इस स्कूल में पढ़ने वाले सभी बच्चों को ड्रेस, पेन, किताब, जूतों के अलावा प्रति माह सौ रुपये नकद देने की व्यवस्था है। यहां पढ़ने आने वाले बच्चों में से कई ऐसे हैं जो शासकीय प्राथमिक स्कूल पारगंज और प्राइवेट स्कूल में भी नामांकित हैं।

पारगंज स्कूल के प्रधानाध्यापक श्री जगजीवन कहते हैं, ''जन शिक्षण संस्थान की योजना से हमारा स्कूल ही खाली हो गया। वहां पर उनको ड्रेस, पेन, जूतों का सीधा लाभ दिखता है। वैसे भी हमारे स्कूल में गरीब अनुसूचित जाति के बच्चे ही तो आते हैं। पैसे वालों के बच्चे प्राइवेट स्कूलों में पढ़ रहे हैं। हम तो किसी तरह स्कूल को चला रहे हैं, अन्यथा स्कूल ही बन्द हो जाएगा।'' यह हालत सिर्फ इसी स्कूल की है ऐसा नहीं है। श्री जगजीवन अन्य पड़ोसी स्कूलों की तरफ ध्यान दिलाते हैं, जिनमें शासकीय माध्यमिक शाला लक्ष्मी नगर भी है। इस स्कूल में कक्षा छह से आठ तक केवल 20 बच्चों के नाम दर्ज हैं, उन्हें पढ़ाने के लिए शिक्षक चार हैं। यानि प्रति शिक्षक पांच छात्र। शासकीय कन्या माध्यमिक शाला लक्ष्मी नगर का तो रिकार्ड ही गायब है। बिना छात्राओं के ही स्कूल चल रहा है!

सरकारी स्कूलों के शिक्षक अपना तबादला रुकवाने की चिंता में है। अनुदानों पर आश्रित स्कूलों को भी संख्या पूर्ति चाहिए और पालकों को कॉपी, किताब और ड्रेस की बचत चाहिए। संयोग से कई स्थानों पर ये तीनों इच्छाएं साकार हो रही हैं। यह अलग बात है कि तीनों तरह के स्कूलों में एक ही छात्र हैं। ■

छात्रावास में लड़कियां

बड़ागांव रेलवे स्टेशन के पास ही एक दो मंजिला मकान है, जिसे बालिका छात्रावास के नाम से लोग जानते हैं। आठ कमरों वाले इस मकान में रह रही 32 बच्चियों का मनोरंजन का साधन भोपाल से मुम्बई की तरफ आने-जाने वाली ट्रेनों की धड़धड़ाहट हैं। जब वे बहुत थकी, उदास या उत्साहित होती हैं, रेलवे लाइन से गुजरती ट्रेनों के डिब्बे गिनती हैं।

आस-पास के आठ किलोमीटर के घेरे में स्थित गांवों से बेहतर जीवन के सपने लेकर ये आदिवासी और दलित बालाएं इस छात्रावास में आई हैं। सबके अलग-अलग सपने हैं - कुछ शिक्षक बनना चाहती हैं, एक लड़की फौज में जाना चाहती है, कुछ सर्विस करना चाहती हैं। और बाकी......?

हमने गौर किया, सभी लड़कियां नहीं बोल पा रही हैं, कुछ बढ़-चढ़कर बोलती हैं। उनमें एक समूह है, बिल्कुल चुप। हम लोग छात्रावास की लड़कियों के साथ एक समूह चर्चा करने आए थे।

क्यों, क्या हुआ? हमारे प्रश्न के उत्तर में वे एक-दूसरे के और करीब हो गईं।

मामला साफ था। लड़कियों के अलग-अलग समूह हैं, एक तरफ हंसी ठठ्ठा है, दूसरी ओर चुप्पी। हमने फुसफुसाहट सुनी.... ये आदिवासी हैं... बोलने नहीं आता... सातवीं में फेल हो गई हैं... कभी पास नहीं होंगी।

हमने गौर किया कि छात्रावास की दीवारों पर साफ-सफाई, आत्मविश्वास सत्य और अहिंसा से जुड़े कई नारे लिखे हुए है। कुछ महापुरुषों के चित्र टंगे हैं। हमने कमरों में हिंदू देवी-देवताओं की तस्वीरें देखी। हमें लड़कियों के साथ बात करते हुए यह भी पता चला कि उनकी दिनचर्या में सुबह नहाने के बाद अगरबत्ती पूजा जरूरी है, साथ ही सुबह-शाम गायत्री मंत्र का उच्चारण भी। जिन समुदायों से ये लड़कियां आती हैं उनकी सांस्कृतिक परम्परा में न तो इन महापुरुषों के नाम हैं न ही देवी-देवताओं के। बच्चियों को एक नए संसार से परिचित कराया जा रहा है।

यह छात्रावास किराये के भवन में है। अपना परिसर नहीं है। इसलिए खेल का मैदान नहीं है। पानी की व्यवस्था नहीं है। कुल आठ कमरों में तीन-तीन बिस्तर लगे हैं। हरेक कमरे में छह लड़कियां रहती हैं। पानी के लिए छात्रावास से दो सौ मीटर दूर जाना पड़ता है। एक बाथरूम और एक ही शौचालय है। नतीजतन सुबह चार बजे से ही नहाने-धोने की लाइन लग जाती है।

छात्रावासों की परिकल्पना आदिवासी-दलित बच्चों के लिए की गई थी कि वे अपनी पढ़ाई को निर्बाध रूप से आगे जारी रख सकें। आस-पास के दूसरे बच्चों से उनका सम्पर्क हो सके। साथ रहकर सीखने की आदत विकसित हो। और वे एक नए माहौल से परिचित हो सकें। रहने खाने की मुफ्त व्यवस्था की गई है। साथ में मंजन, साबुन, तेल, की सुविधा भी रखी गई।

लड़कियां बताती हैं कि उन्हें सिर्फ दो समय खाना मिलता है। रोटियों की संख्या तय है। सब्जी की मात्रा भी तय है। सुबह 12.30 पर और शाम को छह बजे खाना मिलता है। सुबह चाय अथवा नाश्ते का कोई प्रावधान नहीं है। लेकिन सुबह-सुबह बच्चों को भूख तो लगती है। कई लड़कियों ने यह भी बताया कि रात के खाने से ही सुबह के लिए कुछ बचा लेती हैं। वार्डन कहती हैं प्रति लड़की 260 रुपये मिलते हैं जो बहुत कम राशि है। अब शायद सौ रुपए और बढ़ाये गए हैं, पैसा आना बाकी है। वार्डन का प्रतिप्रश्न है इतने कम पैसे में इससे ज्यादा क्या किया जा सकता है?

जिन दिनों हम छात्रावास में पहुंचे थे, नवरात्र चल रहे थे। सभी लड़कियां दिन का उपवास कर रही थीं। उपवास के बदले अतिरिक्त कोई चीज़ नहीं मिलती, उन्होंने आरोप लगाया। यह भी पता चला कि सामान्य दिनों में सप्ताह में एक दिन व्रत रखने को प्रेरित किया जाता है। सवाल यह था कि व्रत के दिन के भोजन का क्या होता है? क्या मौजूदा राशि इतनी कम है कि उपवास के जरिए खर्च का समायोजन किया जाता है? बहरहाल, सप्ताह में एक दिन उपवास का तर्क यह है कि इससे स्वास्थ्य ठीक रहता है।

पाठ्येतर गतिविधियां शून्य हैं। कोर्स के अलावा किसी पत्रिका और पुस्तक का कहीं कोई नाम नहीं है और न ही किसी अतिरिक्त गतिविधि खेलकूद की कोई व्यवस्था है। लक्ष्मी ने जनपद स्तरीय गोला फेंक प्रतियोगिता में पहला स्थान पाया है। वह इस खेल में आगे बढ़ना चाहती है। लेकिन छात्रावास में इसके अभ्यास के लिए कोई व्यवस्था नहीं है।

हमारे सामने यह सवाल था, छात्रावास में देवी-देवताओं की उपासना, सप्ताह में व्रत क्या यही सब सीखने के लिए जंगलों, गांवों से निकलकर ये लड़कियां इस कस्बे में पहुंची हैं? जिन उददेश्यों को लेकर इन छात्रावासों की स्थापना की गई थी, क्या वे पूरे हो रहे हैं? क्या इनकी वास्तविक स्थितियों की खबर ली जाती है? दबे स्वर में ''हां'' जवाब मिलता है। एक तो कोई जांच करने वाला आता नहीं। अगर कभी आया भी तो उसके अलग किस्से हैं। हॉस्टल से जुड़े लोग, बरसों पुराने एक निरीक्षक की याद दिलाते हैं, जिसे वार्डन और हॉस्टल की लड़कियों के साथ बदतमीजी के कारण मुअत्तल कर दिया गया था।

ये छात्रावास इन दुःखद प्रसंगों से अलग आज भी किसी अच्छी खबर की राह देख रहे हैं। ■
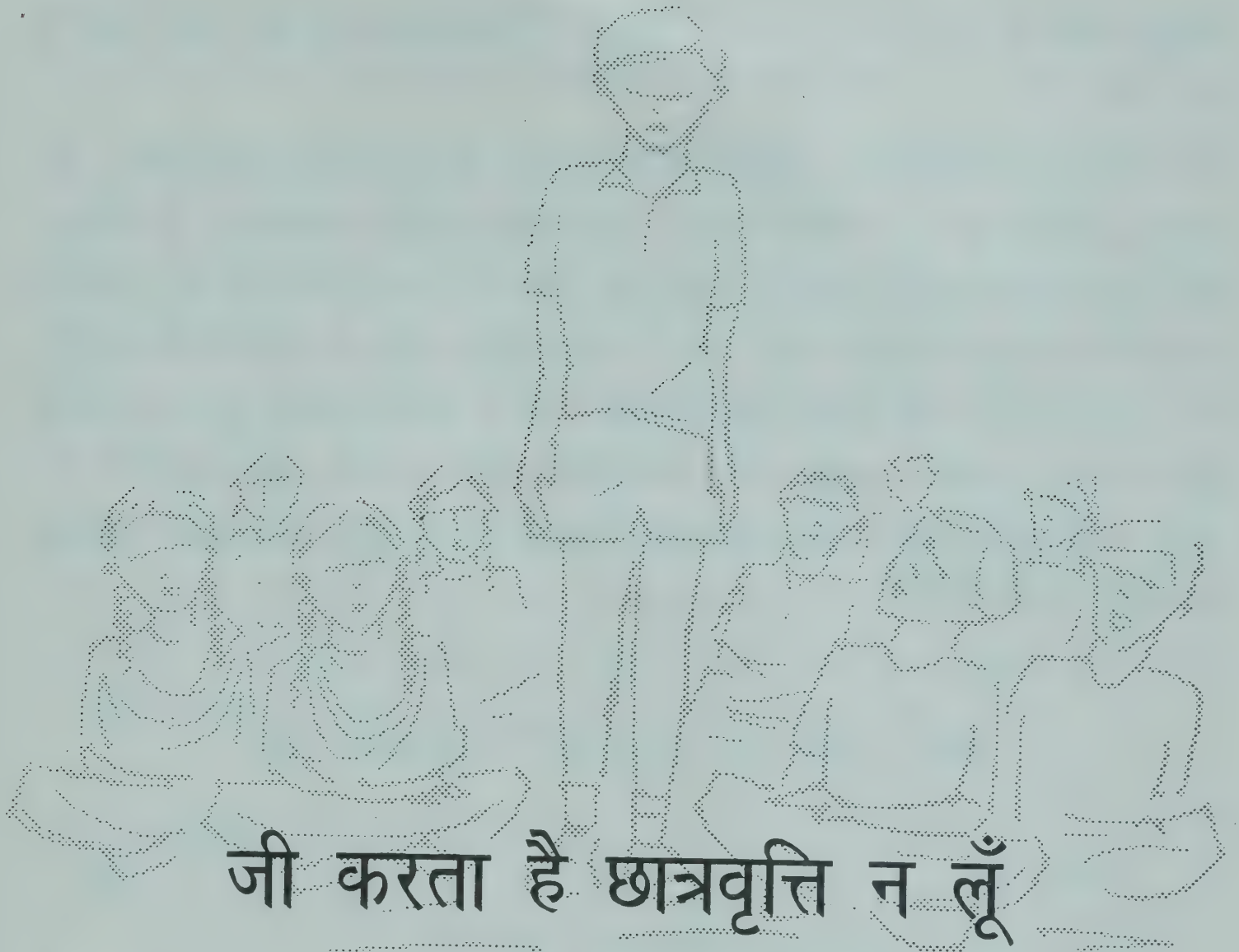
जी करता है छात्रवृत्ति न लूँ

अनुसूचित जाति/जनजाति के बच्चों को स्कूली शिक्षा पर होने वाले व्यय में आर्थिक सहयोग के रूप में सरकार द्वारा छात्रवृत्ति दी जाती है। इसका आशय यह है कि कॉपी, किताब, पेन तथा ड्रेस की दिक्कत उसकी पढ़ाई में आड़े न आए। परंतु जिन बच्चों को यह सहायता मिलती है उन्हें लोगों की घृणा भी झेलनी पड़ती है। किसी न किसी बहाने इन बच्चों पर फब्तियां कसी जाती हैं। इनको दोयम दर्जे का विद्यार्थी समझा जाता है और उनके सम्मान को ठेस पहुंचाई जाती है।

उज्जैन के नवीन स्कूल की एक शिक्षिका मानती हैं कि अधिकांश बच्चे सिर्फ छात्रवृत्ति के लिए ही पढ़ रहे हैं। उनको पढ़ने से कोई मतलब नहीं रहता। अगर छात्रवृत्ति बन्द कर दी जाये तो इन्हें समझ में आ जाये कि पढ़ना क्या होता है?

कक्षा में शिक्षकों का संबोधन गौर करने लायक है, ''हरिजन छात्र कौन-कौन से हैं? छात्रवृत्ति लेना हो तो, हाथ ऊंचा करो। छात्रवृत्ति के अपने फार्म भर देना।'' नवीं में पढ़ रहा निमेष मालवीय अपने शिक्षकों के इस तरह के संबोधन की उम्मीद नहीं रखता, वह बताता है कि कक्षा में खड़े होते हैं तो कुछ छात्र हमारी ओर अजीब तरह से देखने लगते हैं, सोचते हैं कि ये 'हरिजन' हैं। अचानक ऐसा लगता है कि हम उनके सहपाठी न होकर कोई

'अछूत' चीज हों। उस समय यही इच्छा होती है कि छात्रवृत्ति ना लें। हमें अपने आप से घृणा होती है।

कई छात्र बताते हैं कि छात्रवृत्ति के लिए प्रमाण पत्र बनवाना भी टेढ़ी खीर है। इस जाति प्रमाण-पत्र को पंच, सरपंच, पटवारी के हलफनामे से लेकर तहसीलदार, एस.डी.एम. तक आते-आते महीना लग जाता है, तब जाकर प्रक्रिया पूरी होती है। हर वर्ष नया आमदनी प्रमाण पत्र बनवाना पड़ता है। इतना होने पर भी छात्रवृत्ति समय पर नहीं मिलती। छात्रवृत्ति जब मिलती है तब तक परीक्षा खत्म हो चुकी होती है। कभी-कभी तो पूरे पैसे भी नहीं मिलते, बाबू यह कहकर बरगला देते हैं कि तुम्हारी हाजिरी कम थी, इसलिए पूरे पैसे नहीं आए। इतने पापड़ बेलने के बाद कुछ रुपए मिल भी गए तो दोस्त और शिक्षक अलग से अपमानित करने लगते हैं।

टेबिल 4 : अ.जा./अ.ज.जा. के बच्चों के लिए प्रोत्साहन सूची

प्रोत्साहन सूची	लाभार्थी	रकम (रु. में)	
		छात्र	छात्रा
निःशुल्क पाठ्यपुस्तक	प्राथमिक शाला (गरीबी रेखा के नीचे जीवन बसर करने वाले परिवार के बच्चों को)		
वार्षिक छात्रवृत्ति	प्राथमिक शाला (कक्षा तीन से पांच तक)	—	150
	माध्यमिक शाला	200	300
	उच्च माध्यमिक शाला	300	400
कन्या प्रोत्साहन राशि	कक्षा पांचवीं, छटवीं में प्रवेश के लिए	—	500
शिष्यवृत्ति योजना	माध्यमिक व उच्च माध्यमिक शाला (शासकीय छात्रावास में निवासरत छात्रों के लिए)	250	260
मुफ्त गणवेश	प्राथमिक शाला स्कूल की छात्राओं के लिए		

हरदा जिला के विकास खण्ड बड़ागांव के शासकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के रामविलास कतिया, पवन मालाकार, रूपेन्द्र आदिवासी, भीष्म नाई तथा मनोज खरे, आदि कई छात्रों ने छात्रवृत्ति ही नहीं ली। मनीष खरे कहता है, "मैं छात्रवृत्ति लेता ही नहीं, कुल जमा 300 रुपये मिलेंगे, इसके लिए कर्मचारियों, अधिकारियों के पीछे घूमते रहो। दस-दस बार तो तहसीलदार तथा कक्षा शिक्षक के ही चक्कर लगाने पड़ते हैं। स्थाई निवास प्रमाण

पत्र के लिए 50 वर्ष पुराने रिकार्ड मांगते हैं। छात्रवृत्ति से ज्यादा पैसे तो प्रमाण पत्र बनवाने में लग जाते हैं। और इस चक्कर में पढ़ाई भी मारी जाती है।"

छात्रवृत्ति हासिल करने की प्रक्रिया में बाधाओं और अपमान का झेलना उनके लिए दुखदायी तो है, लेकिन कई बच्चे और पालक दोनों स्वीकारते हैं कि छात्रवृत्ति से फायदा होता है। यह पैसा कहीं ना कहीं तो हमारे काम आता ही है। उनके मन में यह बात बैठने लगी है कि सरकार तो उनके फायदे का काम कर रही है, अपमान करने वाले उनके विरोधी हैं। और दुर्भाग्य से इस सूची में उनके शिक्षकों के भी नाम शामिल हैं।

छात्रवृत्ति की अनिवार्यता है। सरकार भी इसको स्वीकार कर आवश्यक नीतिगत प्रक्रियाएं चला रही है। परंतु इन नीतियों को समाजिक स्वीकृति नहीं मिल सकी है। इसकी झलक स्कूल में शिक्षकों और अन्य बच्चों के व्यवहार में देखने को मिलती है। छात्रवृत्ति पाने वाले बच्चों को मनोवैज्ञानिक तनाव झेलना पड़ता है। इस तनाव से वे छुटकारा पाना चाहते हैं। लेकिन स्कूल के भीतर इसकी कोई संभावना नजर नहीं आती। ■
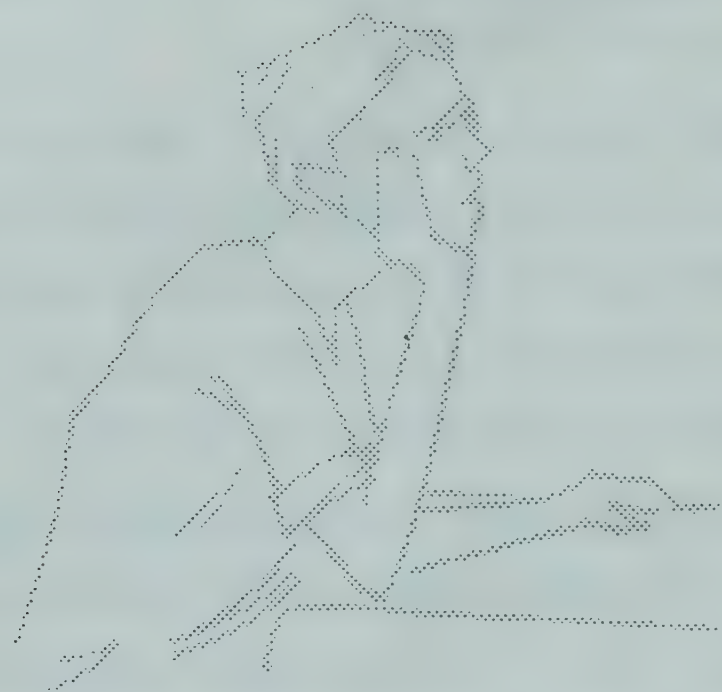
दुविधा में नेमीचंद

चूंचड़ा स्कूल से करीब आठ कि.मी. दूर परमा नदी के किनारे एक गांव है, परमखेड़ा। गांव की एक छोटी सी झोपड़ी में रहती है नेमीचंद की माँ - फूलवती देवी। उसके पिता मवेशी खरीदने बेचने का काम करते हैं। आय के अन्य साधनों में गांव की थोड़ी सी पथरीली ज़मीन है, जिसमें कुछ खास उपज नहीं होती। नेमी की जाति में पूर्णिमा और अमावस्या के दिन गांव में घूमकर अनाज मांगते हैं। लेकिन इन सबसे होने वाली आमदनी पांच लोगों के परिवार के लिए पर्याप्त नहीं होती।

नेमी के घर में उसके अलावा दो और भाई हैं। बड़ा भाई खेती और पिता के धंधे में हाथ बंटाता है। दूसरा भाई गूंगा है। फूलवती बाई उनके बारे में बताते हुए सिसकने लगती है ''बड़ा बेटा पढ़ने में अच्छा था, दूसरा भी स्कूल जाता था। लेकिन हमारी किस्मत ही खराब थी। एक की संगति बिगड़ गई। पढ़ाई छोड़कर मुम्बई भाग गया। दूसरे को स्कूल के बच्चों ने इतना चिढ़ाया कि उसने भी स्कूल जाना बंद कर दिया।'' ये दोनों बच्चे माँ और पिता को मजदूरी में मदद करते हैं।

नेमी का नम्बर तीसरा है। उसकी माँ को छात्रावास के बारे में पता चला तो उन्होंने उसे वहां भेजना तय कर लिया। वे छात्रावास जाकर घूम आई हैं। कहती हैं, ''छोटा बच्चा है घर से दूर रहने पर याद तो आती है। महीने-डेढ़ महीने में हम जाकर देख आते हैं।'' उनके मन में छात्रावास की बड़ी उम्दा छवि है- रहने का कमरा, बिजली, पंखा, दोनों समय

खाना। वह कहती हैं, ''घर पर तो दोनों समय भोजन के भी लाले पड़ जाते हैं, छात्रावास में नियम से खाना तो मिलता है! पढ़ाई भी नहीं छूटती।''

नेमीचंद की पढ़ाई से भी उसके माता-पिता बहुत आशावान हैं। उनका मानना है कि पढ़ने से ही आदमी की स्थिति सुधर सकती है। फूलवती देवी की इच्छा है कि उनका बेटा पढ़-लिखकर गुरुजी बने। उसकी पढ़ाई में कोई कमी नहीं आए, इसके लिए भी वे तैयार हैं, ''हमने उससे कह दिया है कि हमारे करम तो फूट गए, तू पढ़-लिख ले जीवन सुधर जाएगा। जहां तक पढ़ना चाहेगा। मेहनत मजूरी करके पढ़ायेंगे।''

लेकिन नेमीचंद चूंचड़ा के इस छात्रावास से ऊब चुका है। उसका मन नहीं लगता। उसको अक्सर घर की याद आती है। बचपन के संगी और उनके साथ की मस्ती याद आती है। वह कहता है, ''यहां तो सब कुछ नियम से और समय से करना पड़ता है, जगना, तैयार होना, खाना खाना, स्कूल जाना।'' हैण्डपम्प से पानी लेकर नहाते समय उसे गांव की नदी याद आती है। हॉस्टल में सिर्फ दो बार खाना मिलता है। अक्सर उसे भूख लग जाती है और घर का खाना याद आता है। उसे छात्रावास में मिलनेवाले खाना के स्वाद से भी शिकायत है, ''फीका लगता है बिना नमक मिर्च का।''

छात्रावास में बीमार पड़ने पर दवाई का इंतजाम नहीं है। उसने बताया कि कई बच्चों को फोड़े-फुंसियां हो रही हैं, लेकिन इलाज की व्यवस्था नहीं है, कहा गया है कि सुबह उठकर नीम की पत्तियां चबाओ। बच्चों को नीम की कड़वी पत्तियां बिल्कुल नहीं भाती।

बात सिर्फ भोजन, दवा और दोस्तों की याद सताने तक सीमित नहीं है। छात्रावास में उससे काम भी करवाया जाता है। पानी भरना, झाड़ू लगाना, बर्तन साफ करना रोज के काम में शामिल हैं। वह शिकायत करता है ''सर के साथ रोटियां भी बनवानी पड़ती हैं, पानी का बर्तन मुझसे उठता नहीं, मना करने पर डांट पड़ती है।''

नेमीचंद अभी छटवीं में पढ़ रहा है। उम्र में छोटा है इसलिए बड़े बच्चों का रौब भी सहना पड़ता है। बड़े लड़कों की पूछ परख ज्यादा है। उन्हें रोटियां भी अधिक मिलती हैं। उसने बताया, ''चूंचड़ा के बच्चे मुझे परमखेड़ा के गधे, अपने गांव वापस जाओ कहते हैं।'' दबी जुबान वह शारीरिक शोषण की बात भी कहता है। बड़े लड़कों की गंदी हरकतों और गाली-गलौज से वह काफी त्रस्त दिखता है। उसका कहना है कि इन बातों की शिकायत वार्डन से भी की है। परन्तु वे उल्टे उसे ही धमकाने लगे, ''दूसरों से शिकायत न करना, अगर मैंने सुन लिया तो नाम काटकर छात्रावास से बाहर कर दूंगा।''

नेमी के एक दोस्त ने तो भूख सहन नहीं कर पाने के कारण छात्रावास छोड़ दिया, कुछ ने बड़े बच्चों की अश्लील हरकतों से तंग आकर नाम कटा लिया। उनके छात्रावास से चले जाने से वह अकेला पड़ गया है और दुखी रहता है।

घर के लोगों को छात्रावास बढ़िया जगह लगती है। नेमी के लिए चूंचड़ा का छात्रावास एक अजीब सी दुनिया है। लेकिन नेमी की मंशा भी पास के सिंहपुरा गांव में पढ़ने की थी, परिवार वालों के दवाब में उसने यहां नाम लिखा लिया। यहां वह ऐसी मनःस्थिति में पहुंच चुका है जहां से छात्रावास में कुछ भी सकारात्मक नहीं दिखता। इस द्वंद में नेमी कितने दिन तक छात्रावास में टिकेगा कहा नहीं जा सकता। ■
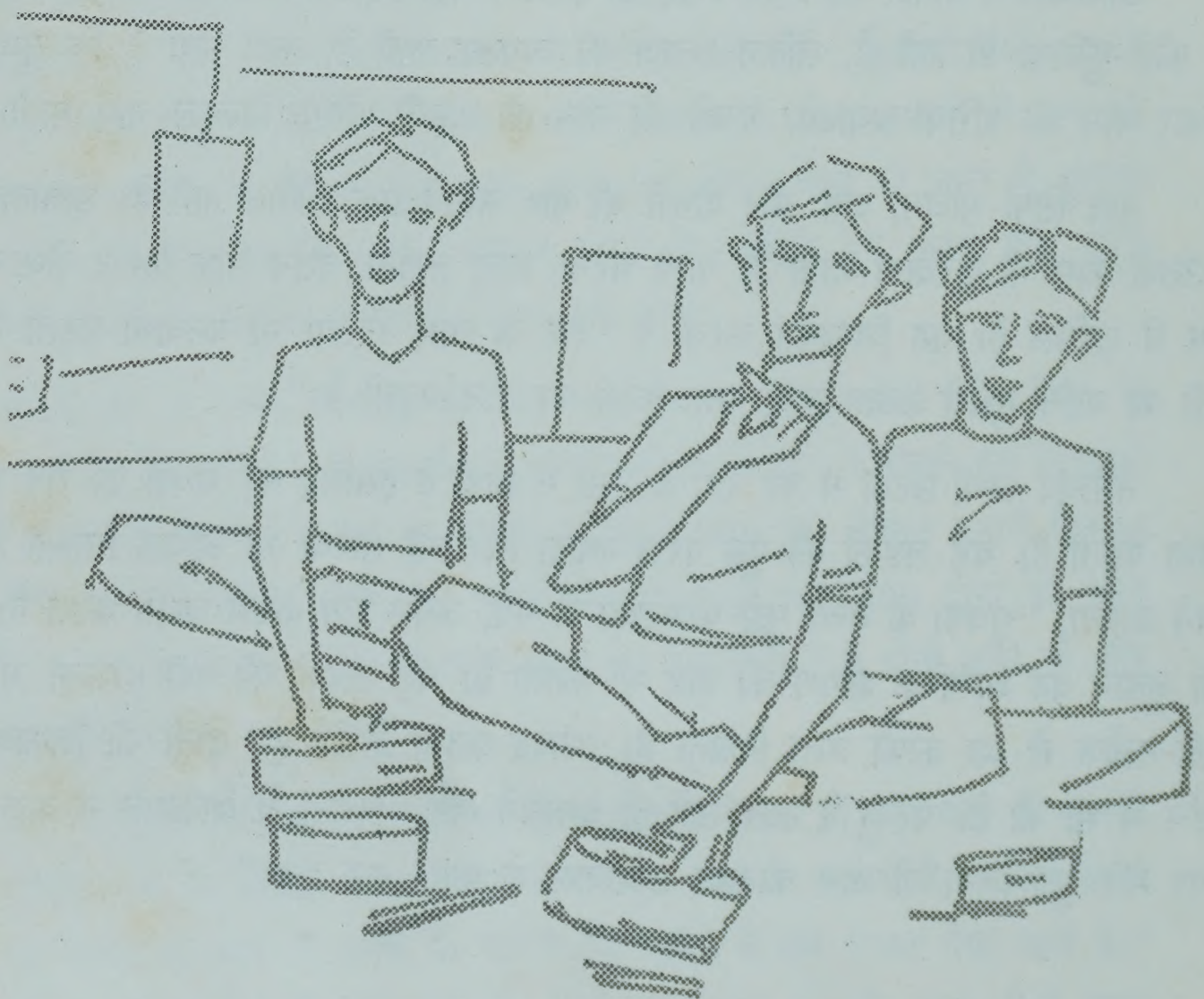
हिस्सा बनना, अलग खड़े न रहना
संबद्ध होना, अलग-थलग न पड़ना
स्वीकार्य, न कि खपाया जाना

मित्र बनना, न कि सिर्फ संगी-साथी
दूसरों के लिए अपने को आवश्यक महसूस करना
न कि आवश्यकताओं वाला एक व्यक्ति
भागीदार बनना, न कि तमाशाई

जिम्मेदारी उठाना
न कि सिर्फ अधिकारों का उपयोग करना
अवसर पाना, न कि कृपा
वास्तव में शामिल होना।

दीप्ति भाटिया